उद्‌बोधन

एक सत्पथ यात्री, अन्य सोये हुए सहयात्रियों को जगाकर अपने निजपथ पर चलने के लिये प्रेरित करना चाहता है—

हे जीव! अनादिकाल से तू मोहरूपी नींदने, प्रमादरूपी नशे में बेभान होकर सो रहा है। बहुत सोया, अब तो जाग, सचेत होकर सद्‌गुरु-द्वारा अपने स्वरूप का भानकर। सवेरा हुआ, सम्यग्‌ ज्ञानी रूप सूर्य उदय हुआ, यदि अब भी सोता रहेगा, तो कब जागेगा? इस नींद में, इसके विष तुल्य मिठास के नशे में तू बेभान सो रहा है। यदि अब भी तू न जागेगा तो यह दुर्लभ-सुयोग तथा मनुष्य देह रूपी नाव हाथ से निकल जायेगी। दिल, दिमाग रूपी ताकत—विचार शक्ति व्यर्थ में नष्ट हो जायेगी, कुछ हाथ न लगेगा। फिर पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत। अब भी समय है, मौका है। जाग, जाग! सचेत हो, सचेत हो! विचार कर, ध्यान से विचार कर!

"जहाँ चाह वहाँ राह।"

—केशरी

नम्र निवेदन

भव्य आत्मन्,

हम आप, पशु पक्षी, पृथ्वी जल, अग्नि वायु, वनस्पतियां सब वहते हुए 'चेतन शक्ति रूप' कण—जीव हैं। अनादि काल व्यतीत हुआ, यह धारा प्रवाह—जन्म मरण रूप भटकना जारी हैं, तथा अनंत भविष्य जो सामने हैं, उसमें जीवका यह दुःख-दायी भ्रमण जारी रहेगा। यदि मनुष्य जीवन पाकर भी अपने स्वरूप को भूले रहेंगे, तथा रूपी पदार्थों में ममत्व करते रहने के कारण इनके अनुकूल संयोग में सुख एवं प्रतिकूल संयोग में दुःख मानते रहेंगे तो अपना यहदुःखदाई संसार भ्रमण न रुक सकेगा। जैसे एक कण की तरह वहते आये, हैं वैसे ही अनंत काल तक इस धाराप्रवाह में वहते रहेंगे।

'बीती ताहि विसार दे आगे की सुध ले'

इस दुर्लभ मनुष्य जीवन में दिल या दिमाग रूप 'मशीन' से विश्वास तथा विचार करने की शक्ति अपने को मिली है। इस अमूल्य साधन शक्ति को नाशवान शरीरादि के सुख दुःख में इष्टानिष्ट भाव रखकर दुरुपयोग होने से बचाना चाहिये, तथा अपने चेतन स्वरुप-दर्शन-ज्ञान साक्षी स्वभाव को समझने एवं विश्वास करने में अपने इस शक्ति का सदुउपयोग करने का हमेशा प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार अपने अनादि मोह रूपी नशा को कम कर अपने आत्म दर्शन में बाधक शक्ति को क्रमशः नष्ट करके बहिरात्मा से अन्तरात्मा बन कर क्रमशः परमात्मा बना जा सकता है।

उद्‌बोधन

एक सतत यात्री, अन्य सोये हुए सहयात्रियों को जगा अपने निजपथ पर चलने के लिये प्रेरित करना चाहता है—

हे जीव! अनादिकाल से तू मोहरूपी नींदमें, प्रमाद नशे में बेभान होकर सो रहा है। बहुत सोया, अब तो सचेत होकर सद्‌गुरु-द्वारा अपने स्वरूप का भानकर। सबेरा ह सम्यग् ज्ञानी रूप सूर्य उदय हुआ, यदि अब भी सोता रहेगा, कब जागेगा? इस नींद में, इसके विष तुल्य मिठास के नशे बेभान सो रहा है। यदि अब भी तू न जागेगा तो यह दुर्लभ-म तथा मनुष्य देह रूपी नाव हाथ से निकल जायेगी। दिल, दि रूपी ताकत—विचार शक्ति व्यर्थ में नष्ट हो जायेगी, कुछ ह रहेगा। फिर पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गई र अब भी समय है, मौका है। जाग, जाग! सचेत हो, सचेत विचार कर, ध्यान से विचार कर!

"जहाँ चाह वहाँ राह।"

प्रत्येक वस्तु—द्रव्य अनेक धर्मात्मक है। जिस वस्तु का जो जो स्वभाव है वही उसका धर्म है। प्रत्येक द्रव्य गुण-पर्यायों सहित है, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त है। द्रव्य-गुण सत्ता रूपसे अविनाशी तथा पर्याय रूपसे विनाशी—परिवर्त्तनशील है।

प्रमाणिक स्याद्वाद युक्ति से वस्तु के पूर्ण स्वरूप का क्रमशः वर्णन किया जा सकता है, उसके आधार पर विचार करने से वस्तु का पूर्ण स्वरूप समझा जा सकता है।

अतः अपने अनादि मिथ्या-दृष्टिपन को त्यागकर सम्यग् दृष्टि बनने के लिये पहले मार्गानुसारीपन—नैतिकता (साधारण धर्म) के गुण जिससे मनुष्य में पात्रता—योग्यता आती है, उसे जानना चाहिये। इस विषय को समझने के लिये निम्न चार दृष्टियों को समझना आवश्यक है। जैसे अनैतिक दृष्टि (अशुभ मिथ्या दृष्टि), नैतिक दृष्टि (शुभ मिथ्या दृष्टि), धर्म दृष्टि (शुभतर व्यवहार सम्यग् दृष्टि), तथा आत्म दृष्टि (शुद्ध सम्यग् दृष्टि)।

(१) अनैतिक दृष्टि—मनुष्य के लिये विषयुक्त भोजन की तरह हैं, जैसे हिंसावृत्ति, अत्याचार, बेईमानी, विश्वासघात, चोरी, डाका व्यभिचारादि। अतः मनुष्य को इन बुरी आदतों को छोड़ना चाहिये, क्योंकि इन कार्यों से उसका कोई विश्वास नहीं करता, तथा राज से भी दंडित होता है। अतः वह जन्म-भर दुःखी रहता है, तथा मृत्यु के बाद नरकादि दुर्गति में अत्यन्त दुःख पाता है।

(२) नैतिक दृष्टि—मनुष्य के लिये समान्य भोजन की तरह

है, जैसे, आवश्यकतानुसार हिंसा (आरम्भादि) सदाचार, इमानदारी, स्वधन, स्वस्त्री में सन्तोष से जीवन वितानेवाला मनुष्य विश्वासपात्र बनता है, तथा वह धर्म पालने के योग्य बनता है। नैतिकता समाजिक जीवन का मेरुदण्ड है। इस दृष्टिवाला मनुष्य आप भी जीता है तथा दूसरों को भी जीने देता है। किन्तु धार्मिक विश्वास घट जाने से तथा विलासिता के साधन बढ़ जाने से मनुष्यों की धन पिपासा तथा कामना वासना अत्यधिक बढ़ गई है, जिससे नैतिकता की जड़ खोखली हो गई है, धर्म को लोग ढोंग समझने लगे हैं। किन्तु धर्म, समाज राज्य विरुद्ध आचरण कर किस लाभ की आशा से लोग धन संचय करते हैं? यह विचारणीय विषय है।

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाड़िये, जब लग घट में प्राण।

(३) धार्मिक दृष्टि—यह मनुष्य के लिए मिष्ट, पुष्ट की तरह फलदायक है। जैसे, [illegible] शौच, ब्र अपरिग्रह, क्षमा, विनय, सरलता नि[illegible]
पालने से मनुष्य [illegible]
में जाने से बचाता[illegible]
बंधन से मुक्त होता[illegible]

हैं। अतः आत्मा स्वरूप के यथार्थ ज्ञान में श्रद्धा, रमणता, स्थिरता ही आत्म धर्म है।

"तुं तेरा सम्भाल" श्री सहजानन्द।

यह वाक्य कहनेवाले महात्मा का आशय है कि तूं—आत्मा तेरा—दर्शन ज्ञानमें, सम्भाल—उपयोग रख, रमण कर। किन्तु भिन्न दृष्टिवाले चार मनुष्य अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार निम्न प्रकार से इसका अर्थ ग्रहण करते हैं। जैसे,

१—अनैतिक दृष्टि वाला मनुष्य इस वाक्य का बुरा-अशुभ अर्थ ग्रहण करता है, "मुझे अपने शरीर को सम्भालने के लिये कहते हैं।" अतः यह नीति वा अनीति किसी भी तरह से धन कमाकर मांसादि तामसिक भोजन तथा देहाध्याय में जीवन व्यतीत करता है।

२—नैतिक दृष्टिवाला मनुष्य इस वाक्य का साधारण शुभ अर्थ ग्रहण करता है, कि "मुझे अपने शरीर को तन्दुरुस्त रखना चाहिये" अतः नीतिसे धन कमाकर राजसिक भोजन से जीवन यापन करता है।

३—धार्मिक दृष्टि वाला मनुष्य इस वाक्य का शुभ विवेक पूर्ण अर्थ ग्रहण करता है, कि "मुझे धार्मिक आचरण के द्वारा अपने को सम्भालना चाहिये" अतः वह नीति एवं धर्म पूर्वक धन कमाकर दानादि देता हुआ, सात्विक भोजन से जीवन यापन करता है।

४—आत्मिक दृष्टि वाला मनुष्य इस वाक्य के मर्म को समझ कर शुद्ध-यथार्थ अर्थ ग्रहण करता है। कि "मुझे अपने

आत्म-स्वभाव में रमण करना चाहिये।" अतः वह अपने ज्ञानादि गुणों में उपयोग रखता हुआ, शुभाशुभ कर्मों के उदय में अव्यापक रहकर ज्ञाता, द्रष्टा साक्षी रूप से जीवन यापन करता है।

इन उदाहरणों से आप आत्मदृष्टि सम्यग्-दृष्टि की महिमा महसुस करते हों तो आप सम्यग् दृष्टि बनने के लिये प्रयत्न शील होवें। यह निकट भव्य जीव का लक्षण है। इससे उतरती धार्मिक दृष्टि की उपयोगिता है ही। जिसमें दया, दान, व्रत, नियम, क्षमादि की आराधना कर्तव्य है। अतः इस "आत्म जागृति" पुस्तक में सम्यग् दर्शन-तत्वों को यथार्थ समझने, जानने प्रतीति करने के लिये यह अल्प प्रयास किया गया है। आशा है, कि आप आत्म हित के लिये इसे अवश्य ध्यान पूर्वक पढ़कर लाभ उठायेंगें।

मेरा यह प्रथम प्रयास होने से सर्वज्ञ की वाणी के प्रतिकूल लिखा गया हो, अथवा दृष्टि चुकने से अशुद्धियां रह गई हों, उसके लिये मन, वचन काया से मिच्छामि दुक्कड़म् देता हूं।

तथा आप से निवेदन है कि अशुद्धियों को सुधार कर पढ़ें। श्री भवंरलाल नाहटा आदि ने प्रूफादि संशोधन किया है, अतः उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूं।

विनीत—केशरी



परम योगिराज सद्गुरु श्री सहजानन्दजी

के कर-कमलों में विनय भक्ति

पूर्वक सादर समर्पण।

विनीत—केशरी



स्व० मातेश्वरी हीरादेवी

पचीस वर्ष के अल्प वयस् में विधवा होनेके बाद गृह तथा शरीर के कार्य को गौणरूपसे चलाते हुए आत्महित के लिये भगवान महावीर के बतलाए श्राविका के १२ व्रतों को मुख्य रूप से पालन किया। तथा श्री नवपद ओली, वीशस्थानक ओली आदि तपश्चर्याएँ तथा तीर्थयात्राएँ कर अपना मनुष्य जन्म सफल किया।

जन्म, वीर सं० २४१०] [देहान्त, वीर २४८२

विषय सूची



आत्म जागृति

ॐकारं विन्दु-संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः ।

ॐ में पंच परमेष्ठि स्थित हैं। जैसे, आराध्यदेव अरिहंत भगवान एवं ध्येय स्वरूप सिद्ध परमात्मा। सहायक सद्गुरु जैसे, आचार्य-साधु, उपाध्याय साधु, एवं अढ़ाई द्वीप के पन्द्रह कर्म भूमियों में मोक्ष मार्गका साधन करनेवाले सर्व साधु, उनका मोक्ष-साधन मार्ग-आत्म धर्म सम्यग् दर्शन-ज्ञान चारित्र स्वरूप, याने मोक्ष साधक आत्माओं से लेकर लक्ष्य स्वरूप सिद्ध परमात्मा पर्यन्त समाया हुआ है।

ॐकार प्रणव, अनादि मंत्राक्षर है, एवं पंच परमेष्ठि बीज, त्रैलोक्य बीज तथा चौदह पूर्वो का सार है।

अतः विनय भक्ति से नमस्कार, वन्दन, स्मरण करने से सर्व पापों का नाश होता है।

प्रवृत्ति से निवृत्त हो, सामायिक लेकर—'ॐ' को अपने मुख मंडलमें इस प्रकार स्थापना करें, जैसे, 'ब्रह्मरन्ध्र'-मस्तक के मध्य-बिन्दु में अपने परम लक्ष्य स्वरूप सिद्ध परमात्माको, 'भृकुटि' चन्द्र में अपने आराध्य देव अरिहंत भगवान को, एवं नाक पर आचार्यसाधु, होंठ पर उपाध्याय साधु, ठोढ़ी पर सर्वसाधुओं को, ॐकार स्वरूप में स्थापित कर विचारपूर्वक एकाग्रता से ॐ नमः का नियमित जप करने से तथा हमेशा मनमें स्मरण रखने से जीव की अवस्था उन्नत होती है। क्रमशः आत्म जागृति होनेपर समता भाव धारण कर मनुष्य मोक्ष के अनुकूल बनता है।

महामंत्र नवकार, चौदह पूर्वों का सार

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं, एसो पंच णमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।

सिद्ध परमात्मा श्रेष्ठ होने पर भी, अरिहंत भगवान ने मोक्ष का मार्ग एवं सिद्धों का स्वरूप हमें बतलाया है। अतः परम उपकारी होने के कारण उनको पहले नमस्कार करते हैं।

चंचलता को कम कर मन को एकाग्र करने के लिये तथा एक ध्यान से नवकार का स्मरण-जप करने के लिये ऊपर ॐकार की स्थापनादि की विधि बतलाई।

इस प्रकार एक चित्त से जप करने से, मन एकाग्र होकर सधेगा, फलस्वरूप शान्ति, आनन्द प्राप्त होगा। मन को विशेष रूप से साधने के लिये ध्यानाधिकार में पिण्डस्थादि ध्यान पढ़ें।

ॐ नमः

आत्म जागृति

ॐ वीतराग भगवन् महावीराय नमः

ॐ सहजानन्द आत्म स्वरूप सद्गुरुभ्यो नमः

जीव की बहिरात्मदशा, अन्तरात्मदशा और परमात्मदशा।

(आत्म-स्वरूप-विकाश-ज्ञान-साधन)

अनादि काल से जीव की चेतन-शक्ति अज्ञानतावश संसार भ्रमण का कारण बन रही है। उस चेतन शक्ति रूप जीव के अनादि भ्रमजाल को नाश करने में समर्थ वीतराग सर्वज्ञ देव की अमृत तुल्य वाणी को, तथा उसके मर्म को समझ कर उसे अपने जीवन में वर्तनेवाले सद्गुरु को विनय भक्ति से वन्दन करता हूँ।

आचारांग सूत्र से :—'एगं जाणइ से सव्वं जाणइ',

भावार्थ :—जिसने आत्मा को पहचाना, उसने अन्य सब जाना।

भगवती सूत्र से :—'आया खलु सामाइयं',

अर्थ :—आत्मा ही सामयिक है।

भावार्थ :—आत्मा का स्वभाव समभाव है, विषम भाव नहीं।

विषम भाव :—ममता-रमता अज्ञता, चंचलता दुःख भाव,
मोह-वेदकता भ्रमणता, यह सब जीव विभाव।

सम भाव :—समता-रमता विज्ञता, अचलता सुख भाव,
ज्ञान-वेदकता स्थिरता, यह सब जीव स्वभाव।

समता भाव आत्म-साधन-स्वरूप

चेत चेत रे चेतन, नव जागरण के स्फुरण में।
रख निर्वैर बुद्धि जगत् के जीवों से,
रख अहिंस वर्ताव जगके प्राणियों से।
रख सम भाव साधक! आत्मा—परमात्मामें,
रख अटल विश्वास सर्वज्ञ के अनुशासन में ॥१॥
रह कमलवत् निर्लेप जगत् के जीवन में,
रह अचिन्त्य कल्पित दुःखों के क्रन्दन में,
रह अलिप्त क्षणिक-सुखों के स्पन्दन में,
रह चंचल-जग में अचपल स्वसमवेदनमें ॥२॥
कर अचल श्रद्धा चेतन-स्वभाव के स्फुरण में,
कर अखंड बोध निज दर्शन-ज्ञान के स्पंदन में,
कर अकम्प साधना चेतनस्वरूप के उपयोगनमें,
कर असीम स्थिरता चेतनस्वरूप के विकाशन में ॥३॥

समता भाव का फल :—

लहे वीतराग दशा जगत् के जीवन से,
लहे निर्विकल्प दशा धन से तन मनसे,
लहे केवल ज्ञान दशा चेतन-सत्ताके मध्य से।
लहे परमानन्द दशा चेतनशक्ति के व्यक्त से ॥४॥

मनुष्य-गति रूप कुआ का उदाहरण—

मनुष्यों को सरलतासे आत्म-बोध करानेके लिये ज्ञानियोंकी युक्ति।
मोह-लोभ रूपी हाथी मनुष्य गति में रहे जीवों की जिन्दगी

को बरबाद कर रहा है। वृक्ष की 'आयुकर्म, वेदनीय कर्म रूपी' दो डालियों के सहारे मनुष्य लटक रहा है। वृक्ष में रहे हुए मधु के छत्ते रूपी पुण्य, जिससे टपकती हुई सुख रूप बून्दों का भोजन कर मनुष्य प्रसन्न हो रहा है। उसके मिठास में वह आसक्त है, पागल है। इधर मनुष्य-आयु-वेदनीय रूप दो डालों को 'दिन वा रात रूप' चूहे खाकर नष्ट कर रहे हैं।

नीचे भयानक संसार समुद्र है, जिसमें 'चारगतिरूप' चार मगरमच्छ वृक्ष से गिरनेवाले मनुष्य को हड़पने के लिये तैयार हैं। लोभी मनुष्य की ऐसी दयनीय दशा देखकर सम्यग्दृष्टि संत पुरुष उस दिशा-मूढ़ मनुष्य को उसकी दयनीय अवस्था का भान कराना चाहते हैं, उसे उसकी करुणाजनक दशा से सचेत करना चाहते हैं।

किन्तु बूंद-बूंद सुख में आसक्त मनुष्य कहता है, कि जरा ठहरिये, यह गिरती हुई बूँद को लेलूँ। उस बून्द को लेने के बाद, सद्गुरु उसे फिर सावधान करते हैं, लेकिन बारम्बार यही जवाब मिलता है। देखिये, विचारिये उस मनुष्य की कैसी मूढ़ दशा है।

भव्य जन! आप भी अपनी-अपनी लोभ दशा से तुलना करें। सुख सब को प्रिय है, क्योंकि जीव को पुण्य के फल रूप सुख का स्वाद मीठा लगता है। किन्तु जैसे मिठाई मीठी होने के कारण अच्छी लगती है, लेकिन जरूरत से ज्यादा खाने में आजाने से कुछ समय के लिये उससे अरूचि हो जाती

है, तथा अजीर्ण होकर स्वास्थ्य बिगड़ता है। वैसे ही मनुष्य अपने पंच इन्द्रियों के तेईस विषयों में रुचि-कामना करता है। उनको भोगते हुए उनके स्वाद में आसक्ति होने के कारण उसकी तृष्णा अधिक बढ़ती है।

किन्तु भोगोदय के अतिरिक्त अपनी बढ़ती हुई इच्छा के कारण अधिकाधिक भोग भोगता है, तथा आसक्ति के नशे में बेभान हो जाता है, फलस्वरूप वह दुःखी होकर, मरने पर दुर्गति में जन्म लेता है।

मोह, लोभ से मूर्च्छित मनुष्य ऐसे क्षणिक-सुख, जिसका फल दुःखदाई है, तथा दूसरों के संयोग से मिलता है, एवं उसे पराधीन बनानेवाले दुःख रूप सुखों को अपना सुख मानने की भूल करता है।

१—जैसे, नींद में सोया हुआ मनुष्य अपने स्वप्न को सत्य घटना मानता है, तथा जागने पर स्वप्न को असत्य मानता है, तथा अपने जीवन को सत्य मानता है, किन्तु वह अपनी मृत्यु के समय इस जीवनको भी स्वप्न की तरह असत्य समझ पाता है।

किन्तु खेद! समय पर वस्तुस्थिति को न समझने से अवसर चूक जाता है। दुर्लभ मनुष्य जीवन को निरर्थक खो देता है। अतः समय रहते मनुष्य को सचेत होना कर्तव्य है।

२—जैसे, बालकपन में मनुष्य अपने खेल कूद को महत्त्व देता है, जब वह जवान होता है, तब बाल लीला की उपेक्षा से

देखता है, तथा अपनी प्रेम लीला को महत्त्व देता है। लेकिन जब वह वृद्ध होता है, तब प्रेम लीला को उपेक्षा से देखता हुआ, अपने मान-सन्मान को विशेष महत्त्व देता है।

३—उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि मनुष्य अपने परिवार तथा शरीरादि को ही अपना समझ उनके कल्पित सुखों के कार्य में हमेशा व्यस्त रहता है। उसे अपना कर्तव्य समझ मुख्य रूप से महत्त्व देता है।

अतः जैसे, दीये से दीया जलता है, वैसे ही इस मिथ्या-दृष्टि मनुष्य को सम्यग्दृष्टि सद्गुरु सावधान कर कहते हैं।

हे, भव्य जीव! तू शरीर को ही 'स्वयं' मान रहा है, तथा शरीर इन्द्रियों के सुखों को ही अपना सुख मानने की भूल अनादिकाल से करता आ रहा है। इसीलिये तुं अब तक दुःख-दायी संसार भ्रमण कर रहा है। यदि मनुष्य जीवन पाकर अब भी इस भूल को न सुधारेगा, तो कब सुधारेगा? अनन्त भविष्यकाल जो सामने है, उसमें यदि दुःख नहीं पाना हो तो सचेतन हो; सावधान होकर अपने ज्ञान चक्षु को खोलकर अपनी दृष्टि को सम्यग् बना, याने वस्तु स्थिति को यथार्थ रूप से देखने की अपनी शक्ति को शुद्ध बनाने का प्रयत्न कर। जैसे, एक जौहरी की दृष्टि, एक पुड़िया में मिले हुए हीरों तथा कांच के टुकड़ों की परीक्षा कर कांच के टुकड़ों को अलग कर हीरों का उचित मूल्य लगाने से उस जौहरी को अपने व्यापार में लाभ होता है। नजर चूकने से यदि वह कांच के

टुकड़े को हीरा समझने की भूल करता है तो उसे व्यापार में नुकसान होता है। इसी तरह, हे भव्य आत्मन ! तुम शरीर में रहे हुए अपनी आत्मा 'चेतन लक्षणयुक्त दर्शन ज्ञान उपयोग स्वभाव' को पहचानो, प्रतीत करो, हार्दिक श्रद्धा करो।

भवरूपी सागर को पार करने में जहाज के समान पुष्ट अवलम्बनरूप वीतराग भगवान महावीरादि को अपना आराध्यदेव मानो, उनके प्रवचन के मर्म को समझकर उनके बतलाये मोक्ष मार्ग का अनुसरण करनेवाले सम्यग्दृष्टि साधु को सद्गुरु मानो, उनकी आज्ञाओं को सत् धर्म मानो, एवं उनकी स्याद्वाद रूप वाणी को सत् शास्त्र मानो, श्रद्धा करो, यथा शक्ति अनुसरण करो।

ऐसे सत् उपदेश से यदि मनुष्य प्रतिबोध पावे, तथा अपने चिर शत्रु मोह-ममता, मान क्रोध मान, माया लोभ रूप कषाय भावों को उपशमादि करे, शान्त कर सके तो उसकी दृष्टि सम्यक् बनने से वह सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। तथा अपने अनादि मिथ्या भाव को छोड़ता है। इस प्रकार मनुष्य की आत्मा जाग्रत् होने से, स्व-पर के भेद ज्ञान रूप सद् विवेक उसे होता है। इस विवेक ज्ञान के द्वारा वह अपने शरीरादि को अजीव, जड़, विनाशी मानता है, एवं अपनी आत्मा के चेतन शक्ति रूप दर्शन-ज्ञान उपयोग स्वभाव के अविनाशी स्वरूप को जानता है। उसे ऐसा भान होता है, कि जैसे, दूध में घी, तिल्ल में तेल समाया हुआ है, प्रयत्न करने से अलग हो सकता है। उसी

प्रकार अनादिकाल से जीव अपनें कर्मों के बंधन से जकड़ा हुआ है, यदि वह अपने कर्मों के फल-शरीरादि में मोह-ममता करना छोड़े तथा उसके सुख में राग, दुःख में द्वेष करना कम कर, आत्म साधन करे तो कर्मों के बंधन से मुक्त हो सकता है। इस प्रकार मनुष्य को आत्म विश्वास होने से वह अपनी बुरी करणी पाप का कड़वा फल दुःख, अच्छी करणी पुण्य का फल सुख की परख, पाप पुण्य आने का मार्ग आश्रव की परख, तथा आश्रव से आते हुए कर्मों को रोकने रूप संवर की परख-पहचान करता है, तथा वह बंधे हुए कर्मों से आंशिक छुटकारा रूप निर्जरा, तथा सब कर्मों से स्वतंत्रता रूप मोक्ष-परम शान्त परमानन्द दशा को समझ पाता है, श्रद्धा करता है।

मन-शुद्धि की मुख्यता

मनुष्य को ऐसी समझ हो जाय, उसमें उसका आन्तरिक विश्वास हो तो वह अपने संकल्प विकल्प रूप चंचल मन को समझाकर अपने मार्ग-साधन में उसकी शक्ति का प्रयोग कर, आत्म-साधन कर सकता है। इसे ही मन शुद्धि समझें। इस प्रकार बहिर्मुखी मन को संसार से, संसार के कल्पित क्षणिक सुखों से विमुख कर मनुष्य अपनी आत्मा में अपने चेतनशक्ति रूप दर्शन ज्ञान उपयोग मात्र में स्थिर कर मन को अन्तर्मुखी कर सकता है। सच्चे योगी इसे योग कहते हैं। इस प्रकार बहिर्मुखी बाधक मन को अन्तर्मुखी साधक मन बनाकर सतत अभ्यास से मनुष्य समय आनेपर अपने कर्मों के बन्धन से

स्वतन्त्र हो सकता है। शास्त्रों में कहा भी है कि मनुष्य का मन कर्म बन्ध में तथा मोक्ष में कारण है।

अतः मन-शुद्धि का सरल उपाय—मन-मद-मैल दूर करो, रे चेतन! प्रभु-भजन से, मन-मद-मैल दूर करो।

मोह से भ्रम में रहा हुआ मनुष्य (चाहे वह पंडित ही क्यों न हो) वह अपने अनित्य शरीरादि के रूप में, बल में, धन में, लाभ में, कुल-जाति में तथा अपने पाण्डित्य में, तप-जप के मद में अन्धा बन जाता है। इन नाशवान वस्तुओं में अपनापन हो (मिथ्यात्व) बुरा है ही, उसपर उनका मद करने का फल कितना बुरा हो सकता है, इसका आप स्वयं विचार करें। मद-अभिमान करना छोड़ेंगे, तब आपका मन पवित्र हो, आत्मसाधन करने योग्य बनेगा।

मनुष्य झूठे अभिमान तथा अपने अनादि स्वच्छन्द विचार व प्रवृत्ति को छोड़कर जब सम्यग्दृष्टि बनता है, इसका कितना महत्त्व है, यह आप इस उदाहरण से अनुभव कर सकेंगे।

भगवान् महावीर, गौतमादि ११ गणधर

अपने पाण्डित्य से गर्वित इन्द्रभूति आदि ग्यारह ब्राह्मण वेद उपनिषद् के पारगामी, पाँच पाँच सौ शिष्यों को शिक्षा देनेवाले, आत्म-अनुभव न रहने से अज्ञानी थे, तथा व्यावहारिक पाण्डित्य के मद में अपना जीवन बिता रहे थे। किन्तु शुद्ध निमित्त कारण रूप भगवान महावीर का उन्हें संयोग मिला। ने उनके दृष्टिभ्रम को उनके ही शास्त्रों से निवारण

किया। तब उनका पाण्डित्य गर्व गलकर बहने से उन्हें सम्यग्दर्शन आत्म-बोध हुआ, फलस्वरूप उन्होंने ही 'त्रिपदी' पर से 'द्वादश अंग' सूत्र पाठों की रचना की। वे ही गौतमादि ११ गणधर हुए।

देखा आपने ! अनादि अन्तर्मेद बह जाने से मनुष्य कितना शीघ्र सम्यग्दृष्टि बन कर, यथासमय आत्मसिद्धि कर सकता है। अतः आप स्वयं विचार कर अपना कर्तव्य स्थिर करें।

आत्महित के लिये धन, रूपादि पर के अपने मिथ्या अभिमान को छोड़ने में सहाय रूप चार शरणों का स्मरण रखें। मुझे सिद्ध परमात्मा की शरण है। अरिहंत भगवान् श्रीसीमंधर स्वामी की शरण है। भगवान् महावीर के मोक्षमार्ग-धर्म की शरण है। मुझे सम्यग्दृष्टि सुसाधु की शरण है।

श्री सहजानन्द कृत पद :—

अनुभव विना, शुं जाणे व्याकरणी ॥ अनुभव.॥
कस्तुरी निज डुंटीमां पण लाभ न पामे हरणी,
पीठे चन्दन पण शीतलता पामे नहीं खर घरणी ॥अनुभव॥
भाव धर्म स्पर्शन विण निष्फल, तप जप संयम करणी,
शब्दशास्त्र सद्भाव धर्मता, सहजानन्द निसरणी॥अनुभव॥

॥ ॐ शान्ति ॥

ॐ नमः

पाप, पुण्य रूप आश्रव बंध एवं संवर-निर्जरा भाव का सार।

पमाये कम्म माहंसु, अप्पमायं तहावरं।
तब्भाव देसओ-वावि, बालं पंडिय मेव वा॥

मू० कृ० १ श्रु०, ८ अ० ३री गाथा।

भावार्थ—प्रमत्त दशा को कर्मरूप तथा अप्रमत्त दशा को अकर्म रूप आत्मस्वरूप कहते हैं। ऐसे भेद से अज्ञानी एवं ज्ञानी का स्वरूप समझा जाता है।

मिथ्यात्वे भ्रम, क्रियाए कर्म, परिणामे बंध, एवं उपयोगे धर्म,

१—मिथ्यात्वे भ्रम—'जीव को अज्ञानता से भ्रम होता है।

२—क्रियाए कर्म—'जीव के मन, वचन, काया रूप योग की क्रिया से—संचालन से पुद्गल वर्गणा रूप कर्म आकर्षित होकर 'उसके आत्मप्रदेशों में' लगते हैं।

३—परिणामे बंध—जीव के राग—माया-लोभ, द्वेष—क्रोध-मान रूप कषाय भाव के तारतम्य परिणाम से आये हुए कर्म प्रदेशों में तरतम स्थिति, शक्ति (रसबन्ध), एवं प्रकृति—स्वभाव का बन्ध 'जीव के असंख्य प्रदेशों से होता है।

४—उपयोगे धर्म—'जीव के अपने चेतन स्वभाव में' उपयोग रखने से धर्म—आत्मधर्म की सिद्धि होती है।

पर में अपनेपन के भ्रम के कारण, जीव के योग की क्रियाओं से पुद्गल वर्गणा रूप कर्म आकर्षित हो उसके आत्मप्रदेशों में लगते हैं। इसे प्रदेश बन्ध कहते हैं।

जीव के कषाययुक्त—विषम परिणामों के तारतम्यता से कर्म रूप से आये हुए वर्गणामें स्थिति का बन्ध तारतम्य रूप से होता है। जीव के कषायों की तीव्रता से मोहनीय कर्म की स्थिति-अधिक में सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति का बंध उसके प्रदेशों में होता है। इसे स्थिति बंध कहते हैं।

जीव के कषाय युक्त परिणाम में शुभाशुभ छः लेश्या की तारतम्यता से उन आये हुए कर्मों की शक्तिरूप से बंध (रसबंध) में तारतम्यता होती है।

उन कर्मों के विपाक से जीव को अपने कर्मफल भोगते समय वैसे ही तारतम्य भाव से सुख या दुःखादि भोगना पड़ता है। इसे रसबंध कहते हैं।

जीव की जैसी-जैसी मनोवृत्ति रहती है, उन कर्मों में वैसे-वैसे मोहनीयादि आठ कर्मरूप स्वभाव बंध जाते हैं। इसे प्रकृति बन्ध कहते हैं। कर्म उसके असंख्य प्रदेशों में दूध में पानी की तरह मिलकर बंध जाते हैं।

उन बंधे हुए कर्मों के उदयानुसार जीव को शरीरादि का संयोग मिलता है, तथा उन कर्मों का उदय भाव, चेतनशक्ति के संयोग से जीव को चेतनरूप से भासते हैं। जीव को ऐसा भासने के कारण उसे अपने कर्मानुसार मिले हुए शरीरादि में मोह-ममता होती है, तथा उसके सुख में राग, दुःख में द्वेष होता है मोहनीयादि कर्मों के प्रभाव से भ्रमवश जीव ऐसी भूल अनादि काल से करता आया है।

पर्याय दृष्टि न दीजिये, शुद्ध निरंजन एक रे।

श्री आनन्दघन

अतः जीव अपने मनुष्य जीवन में बुद्धि-विवेकरूप शक्ति पाकर भी अपने इस अनादि भूल को न सुधारे तो कब सुधारेगा ? यह विचारणीय है। इस अनादि भूल को सुधारने की प्रेरणा के लिये ऐसे महावीरादि महापुरुषों के उदाहरण की आवश्यकता होती है, जिन्होंने अपने इस अनादि भूल को जड़-मूल से सुधार कर अपने अनुपम सिद्ध स्वरूप को प्रगट किया है। ऐसे महान् पुरुषों का जीवन, उनका अमृत तुल्य हितोपदेश उदाहरण रूप से भव्य जीव के सामने आने से उन्हें अपने आत्मा के सत्य स्वरूप पर विश्वास करने का अवसर मिलता है। मनुष्य इस विश्वास के कारण अपने सत् स्वरूप का दिग्दर्शन करानेवाले भगवान् महावीरादि के प्रति आकर्षित होकर विनय भक्ति से वंदन करता है। तथा उनके अमृत तुल्य वाणी के आशय को समझने के लिये, उनके निर्देशित मार्ग में चलनेवाले संत पुरुष का सत्संग करके, अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करना चाहता है।

ऐसा सुयोग मिलने पर मनुष्य को अपने सत् स्वरूप का भान होता है। अतः वह अपने सत् स्वरूप के बाधक-मोह तथा कषायों को अपना चिर शत्रु मान उसे नाश करने में प्रयत्नशील बनता है। जैसे-जैसे उदित तीव्र कषाय भाव को उपशम—शान्त करने में वह सफल होता है, वैसे-वैसे उसके तीव्र मोह-ममता रूप भ्रम का पर्दा हटता है। अन्तमें दर्शन मोहनीय रूप

भ्रम का पर्दा फाँस हो जाने से अपने चेतन सत्ता में शक्ति रूप से बीज रूप से रहे हुए केवल ज्ञानादि स्वरूप का बोध, उसे प्रतीति रूप से होता है। तब रूपी पदार्थों का दृश्यमान जगत् उस को पुद्गल, जड़ रूप से भासता है, तथा उसमें रहे हुए चेतन शक्ति का भान आत्म रूप से पृथक् भासता है। ऐसा बोध करने वाला वह स्वयं आत्मा है। ऐसे आन्तरिक अनुभव को, उस पर अटल श्रद्धा को भगवान ने निश्चय से सम्यग् दर्शन कहा है। मनुष्य के ऐसे भान को आत्म-जागृति समझनी चाहिये।

मनुष्य की आत्मा जाग्रत् होने से उसे अपने अशुभ (पाप) शुभ (पुन्य) शुद्ध (आत्म उपयोग) तथा विशुद्ध (शुद्धात्म उपयोग) भावोंकी पहचान होती है।

वह अशुभ भाव को पाप रूप लोहे का बन्धन, तो शुभ-भाव को पुण्य रूप सोने का बन्धन मानता है। दोनों को बन्धन रूप से समान जानता है। दोनों बन्धनों का अनुभव उसकी स्मृति में रहने से क्षणिक सुख भी उसे दुःख रूप भासते हैं।

पूर्व कर्म के उदयानुसार उसके शुभ या अशुभ भाव उत्पन्न होते हैं, किन्तु उन भावों को वह त्यागने योग्य मानता है और उनके कार्यों में साक्षी रूप से वर्तता है। इस प्रकार उन भावों के उदय काल में उसमें अव्यापक रह कर, क्रमशः उन्हें नष्ट करता है।

जब उसका मन अन्तर्मुखी होकर अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव मात्र में व्याप्त हो जाता है—समाधिस्थ हो जाता है;

तब उसे वह शुद्ध भाव मानता है। इसे वह भाव-आत्म अनुभव प्रवाह पसन्द है। अतः इस भाव को बनाये रखने में प्रयत्नशील रहता है।

किन्तु शुभाशुभ कर्मों का उदय उसे उस स्थिति में अधिक ठहरने नहीं देते। लेकिन वह उन शुभाशुभ भावों में रमता नहीं, अव्यापक रहने का प्रयत्न करता है, क्योंकि उनमें उसकी रुचि नहीं रही। वह ध्यान के समय अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का भान अनुभव रूपसे करता है, तथा अन्य समय प्रतीति रूपसे करता है।

जब-जब शुद्ध आत्म स्वरूप का भान वह भूलता है, तथा शुभाशुभ भाव में रमता है, उसे वह प्रमत्त दशा मानता है।

अतः वह अपने शुभाशुभ भाव को हेय—त्यागने योग्य तथा शुद्ध भाव को उपादेय—आदरने योग्य मानता है, एवं विशुद्ध भाव को लक्ष्य रूप से जानता है, आन्तरिक श्रद्धा करता है।

मनुष्य अपने शुद्ध आत्म स्वरूप के भान के साथ यदि ऐसा उपयोग रख सके तो वास्तविक रूप में धर्म-सकाम निर्जरा होती है, यानि उसके आत्मा की शुद्धि होती है। क्रमशः विशुद्धि तथा समय आनेपर पूर्ण विशुद्धि होकर रहेगी। इसे अप्रमत्त दशा कहते हैं। अतः भव्यजन का कर्तव्य है कि अपनी अनादि भूल को समझें, समझकर उसे त्यागें। स्वच्छन्दता से वर्तन रूप अपने जीवन को समझें, तथा स्वच्छंदता को अपने जीवन से निकाल देने के लिये कटिबद्ध हो जायँ। स्वच्छन्दता यह है कि शरीरादि

में मोह-भ्रमवश सुखमें राग करना तथा दुःख में द्वेष करने रूप प्रवृत्ति एवं अपनी कल्पनानुसार धर्म प्रवृत्ति करते हुए, सर्वज्ञ के वचन की उपेक्षा कर स्वच्छन्द जीवन यापन करना।

स्वच्छन्द जीवन त्यागने के लिये, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग के मूल कारण क्रोध, मान, माया, लोभ रूप विषम भाव को छोड़ना अनिवार्य है। अतः भव्य मनुष्य को उदय में आनेवाले अपने कषाय भावों को सतर्कता से उपशम-शान्त करते रहना चाहिये। यही उनका कर्तव्य है, आन्तरिक साधना है, सर्वज्ञ के प्रवचन के आशय को समझ कर धर्म आराधन करना कर्तव्य है।

श्री सहजानन्द कृत प्रथम पद—

परद्रव्ये एकत्वता, उदये व्यापक भाव,
राग द्वेष अज्ञान थी, जन्म मरण दुःख दाव।
पर कर्तृत्व अभ्यास थी, अनादि आ संसार,
निज कर्तृत्व अभ्यास थी, टले संसरण असार।
मच्छ वेध साधक परे, सामे पूर तराय,
आंण-नार जोनार माँ, सुरता एम लखाय।
निज सत्वे एकत्वता, उदये अव्यापक भाव,
ज्ञाता दृष्टा साक्षीये, उपजे मोक्ष स्वभाव।
सहस्र पत्र पंकज परे, मह्त नलिनी मांय,
आतम आतमता वरे, सहजानन्द-घन त्यांय।

बलदेव रामचन्द्र, भ्राता वासुदेव लक्ष्मण।

ऐसे हृदयमें अव्यापक-साक्षी रूप से या व्यापक-अभिमान से, एक ही प्रकारसे व्यास जीवन बिताने पर भी उनके फलों में दिन-रात जैसा अन्तर हो जाता है। इसे आप श्री रामचन्द्र तथा लक्ष्मण के जीवन से, अर्थात् अन्तर में साक्षी रूप से रहनेवाले श्री रामचन्द्र के स्वभाव से तथा अन्तर में व्यापक-अभिमान से रहनेवाले लक्ष्मण के स्वभाव से तुलना कर निर्णय कर सकते हैं। कथानक :—रानी कैकयी के अभिप्राय से, पिता दशरथ की आज्ञा से श्री रामचन्द्र १४ वर्ष के लिये वनवास गये। प्रेमवश सीता, स्नेहवश लक्ष्मण भी उनके साथ गये। वहां प्रतिवासुदेव रावण ने सीता-हरण किया। सीता को उसके पंजे से निकालने के लिये दोनों भाइयों ने युद्ध की ठानी, तथा अपने हनुमान सेनापति के साथ दोनों ने रावण के राज्य लंका पर चढ़ाई कर दी। रावण के दानवों जैसी क्रूर सेना का दोनों भाइयों ने जी-जान से सामना किया, जिसमें वासुदेव लक्ष्मण के घायल हो मूर्छित हो जाने तक की नौबत आई। इससे आप लड़ाई की भयानकता का अनुभव कर सकते हैं। अन्त में रावण मारा गया, दोनों भाइयों की विजय हुई। तथा सीता को लेकर वापस अपने राज्य अयोध्या आये। भाई भरतादिकी प्रार्थना से रामचन्द्रजी गद्दी पर बैठे, राज्य चलाया। इधर लक्ष्मण वासुदेव प्रतिवासुदेव रावण को जीतने से के तीन खण्ड राज्य के स्वामी बने। अब विचारिये

दोनों का वन जाना, दोनों का रावण से लड़ना, तथा दोनों का राज्य करना, ऊपर से एक-सा दिखता हैं। किन्तु अपने जीवन में श्री रामचन्द्र ने अन्तर में साक्षी रूप से अपने उपयोग को रखा। फलस्वरूप यथासमय संसार से मुख मोड़ कर हार्दिक प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्याहार कर मुक्त हुए। इधर लक्ष्मण ने अन्तर भावों से उन परिस्थितियों में व्याप्त रह कर, अभिमान किया, जिससे वे मृत्यु के बाद नरक गये। अतः रूपी पदार्थों में आसक्त रह कर उनमें स्वाभिमान करने का फल मनुष्य के लिये कितना बुरा हो सकता है, यह वासुदेव लक्ष्मण के दुर्गति में जाने से समझ में आने लायक है।

इधर क्षणिक सुख-दुःख में साक्षी रूप से, अनासक्ति से जीवन बिताने का फल मनुष्य के लिये कितना अच्छा, सुन्दर हो सकता है, यह बलदेव रामचन्द्रजी के मुक्ति जाने से, अपने समझ में आने लायक है। सारांश यह निकलता है कि संसार में सभी रहते हैं, तथा अपने-अपने कर्म उदयानुसार सुख दुःख सभी को भोगना पड़ता है। किन्तु सुख दुःख को साक्षी से, अनासक्ति से मनुष्य भोगे तो नये चीकने कर्म न बंधने से, समय आने पर संसार से मुख मोड़ कर हार्दिक प्रतिक्रमण, आलोचन, प्रत्याहार कर आत्मध्यान से, शुक्लध्यान से सिद्धि लाभ करता है, मुक्त होता है अतः मनुष्य को किस प्रकार सुख दुःख से, परिवार से तथा संसार से अनासक्त रहना चाहिये, आगे वर्णन करेंगे।

ॐ नमः

आत्मदृष्टि मनुष्य का अनासक्त शुद्ध जीवन।

जेसिं कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे नरे।
ममाई लुप्पई बाले, अण्णो अण्णेहिं मुच्छिए॥

सू० श्रु० १ अ० १ उ० ४ थी गाथा

भावार्थ—जिस कुल में जीवने जन्म लिया, वा जिनके सहवास में यह रहता है, उनमें अज्ञानी जीव ममता करता है, तथा निमग्न रहता है।

अन्यत्व भावना

ना मारां तन रूप कांति युवती, ना पुत्र के भ्रात ना,
ना मारां भृत स्नेहियो स्वजन के, ना गोत्र के ज्ञात ना।
ना मारां धन धाम यौवन धरा, ए मोह अज्ञात्वना,
रे! रे! जीव विचार एमज सदा, अन्यत्वदा भावना।

—श्री राजचन्द्र

सम्यग् दृष्टि—मनुष्य अपने आत्मा को इस प्रकार मानता है। जैसे:—

१—'मैं' आत्मा हूँ, चेतन लक्षणयुक्त, ज्ञाता दृष्टा मात्र अविनाशी आत्मा हूँ।

निश्चयसे—निज स्वभाव ज्ञानादि का कर्ता भोक्ता हूँ, नित्य, अरूपी, अनाहारी तथा अक्रिय हूँ।

व्यवहारसे—अज्ञानवश शुभाशुभ आठ कर्मों का कर्ता, [illegible] फल का भोक्ता हूँ, रूपी, आहारी, सक्रिय, विनाशी हूँ तथा [illegible]भिमान करने के कारण संसार भ्रमण कर रहा हूँ।

२—शरीर, मन, इन्द्रिय पुद्‌गल हैं, जड़ हैं, रूप, रस, गंध, स्पर्श रूप हैं, क्षणस्थायी, विनाशी तथा अजीव हैं।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य मानता है, कि—आत्मा तथा शरीर दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं, दोनों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। मेरा त्रिकालिक स्वभाव चेतन स्वरूप है, तो शरीर विनाशी जड़-रूप है।

किन्तु अनादि काल से जीव मोह-ममतारूपी नशे के कारण शरीर में ही अपना अस्तित्व तथा सुख मानता आ रहा है। अज्ञानवश शरीर से अलग अपना अस्तित्व ही नहीं समझ पाता। इसलिए मनुष्य अपने मन, शरीरके अनुकूल अवस्था में सुख, प्रतिकूल अवस्थामें दुःख मान रहा है।

अतएव शारीरिक मानसिक दुःखों से बचने के लिये तथा तथा सुखों के साधन संचय करने के लिये वह रात-दिन परिश्रम करता है।

फलस्वरूप उसे क्षणिक सुख भले ही मिले, किन्तु आरंभ समारंभ रूप पुरुषार्थ में व्यस्त रहने से तथा आर्तध्यान, रौद्र-ध्यान रूप अध्यवसाय रहने के कारण से मनुष्य, तिर्यञ्च गति (पशु पक्षी, वनस्पति, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि) के अथवा नरकादि रूप दुर्गति के अनुकूल कर्म उपार्जन कर लेता है। इस प्रकार यह अनादिकाल से चारगति के चौरासी लाख जीवा-योनियों में 'कोल्हू के बैल की तरह' जन्म मरण रूप चक्कर लगा रहा है। जब तक उसे निज आत्म स्वरूप का बोध न होगा, तब तक दुःखदायी संसार भ्रमण करता ही रहेगा।

उपजे मोह विकल्प थी, समस्त आ संसार,
अन्तर् मुख अवलोकतां, विलय थतां नहीं वार।
—श्री राजचन्द्र

यदि अपने इस महान दुःखदायी भ्रमण का अन्त करना है, कर्मों से संतप्त आत्मा को शान्त करना है, तथा अपने दुर्लभ मनुष्य जीवन को सार्थक बनाना है। तो अपने विश्वास एवं विचार शक्ति का, छोड़ने योग्य आर्तध्यान, रौद्रध्यान रूप अध्यवसायों में प्रयोग करना उचित नहीं है। अतः अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति को त्यागने तथा धर्म-ध्यान आराधने के लिये पहले निम्न तीन शल्यों को त्यागना आवश्यक है। जैसे—

(१) माया शल्य—दम्भ-कपट से धर्म क्रिया करना।

(२) नियाणा शल्य—इसलोक तथा परलोक के पौद्‌गलिक सुख के लिये धर्म करना।

(३) मिथ्यादर्शन शल्य—विपरीत समझ से धर्म आराधन करना।

अतः इन तीनों शल्यों—काँटों को हृदय से निकालकर अपने विश्वास तथा विचारशक्ति को आत्म-शुद्धि के लिये निम्न-प्रकार से धर्म साधन में प्रयुक्त करना कर्तव्य है। जिससे मनुष्य को आत्म-दर्शन निज स्वरूप का यथार्थ बोध होना सुगम है।

अज्ञान तिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जन शलाकया,
नेत्रमुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरवेनमः।

भावार्थ:—मनुष्य के अज्ञान रूपी अन्धकार को अपने ज्ञान रूपी प्रकाश से दूर कर उसके ज्ञान रूपी नेत्र को खोलने में समर्थ सद्गुरु को नमस्कार है।

१—विनय धर्म का मूल है। अतः विनयपूर्वक पुष्ट अवलम्बन रूप भगवान महावीरादि के प्रतीक स्वरूप जिन मूर्तियों का पूजन, स्तवन, भक्ति आदि करना धर्म साधन है।

२—भगवान की आज्ञा में चलनेवाले सुसाधुओं की सेवा, सुश्रुषा कर उन्हें शुद्ध आहार पानी देने से मनुष्य धर्म के योग्य बनता है।

३—उनका सत्संग कर सत्शास्त्र अध्ययन, मनन करने से।

४—उनकी वाणी के मर्म को समझकर उदय में आनेवाले तीव्र कषाय भावों को उपशमादि करने से आत्मबोध में बाधक दर्शनमोह की सात प्रकृतियों का उपशम होता है, तब मनुष्य को अपने शुद्ध आत्म स्वरूप का बोध-झाँकी-दर्शन होता है। इसे यह बोध अल्प समय तक ही रहता है, इसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। मनुष्य को ऐसा आन्तरिक बोध एक बार हो जाने से उसका संसार भ्रमण सीमित हो जाता है। उन प्रकृतियों के फिर से उदय होने पर उनमें से सम्यक्त्व-मोहनीय का क्षय करे तथा बाकी सातों को दबाये रखे तो उसे क्षयोपशम सम्यक्त्व हो जाता है। ऐसा जो आन्तरिक बोध न्यूनाधिक रूप से होता रहे, तो वह अधिक में पन्द्रह सोलह भव करता है।

जो मनुष्य इस बाधक शक्ति को हमेशा के लिये नाश कर

देते हैं, उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व हो जाता है। उन्हें हमेशा अपने ज्ञाता दृष्टा स्वरूप चेतन स्वभाव का भान-प्रतीति रूप से बना रहता है वे अधिक में तीन या पांच भव कर अवश्य मुक्त हो जाते हैं।

मनुष्य को ऐसे स्व-पर के भेद ज्ञान रूप सद्विवेक उत्पन्न हो जाने से उसे अपने शरीरादि के क्षणिक सुखों में अरुचि होती हैं, उसे विराग कहते हैं। पर में विराग होने से अपने ज्ञाता दृष्टा स्वरूप अविनाशी स्वभाव को शरीर से मन से तथा इन्द्रियों से पृथक समझता है, मानता है, तथा श्रद्धापूर्वक अपने कर्मों के उदय में अव्यापक रह कर उनमें साक्षी रूपसे वर्तता है। अपने शुद्ध आत्म स्वरूप को हमेशा स्मरण रखने का प्रयत्न करता है। ऐसा आन्तरिक बोध जिसको हो उसे निश्चय सम्यक्त्व हुआ है। मनुष्य की इस दशाको आत्म जागृति समझें। सद्देव, सद्धर्म में सर्वज्ञ के शासन में श्रद्धा रखना व्यवहार नय का सम्यक्त्व है। ऐसा बोध मनुष्य को है कि नहीं ? इसकी परीक्षा पाँच लक्षणों से की जा सकती है। जैसे, उपशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था।

१—क्रोध, मान, माया लोभ रूप, विषम भावको शान्त करना उपशम है।

२—सत्संग में, सर्वज्ञ भाषित धार्मिक कर्तव्य में उत्साह को कहते हैं।

३—सांसारिक, पारिवारिक कार्य में अरुचि को निर्वेद कहते हैं।

४—मन, वचन, काया से कार्य करते समय आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान से आत्म विराधना न हो, यह भाव अनुकम्पा है। तथा शरीरादि के द्वारा छ काय के जीवों की हिंसा न हो, यह द्रव्य अनुकम्पा है।

५—निज आत्म स्वरूप में, तथा सर्वज्ञ भाषित मोक्ष मार्ग में श्रद्धा ही आस्था है। अतः कर्मों के उदयानुसार मनुष्य को शरीर मनके द्वारा जो भी कार्य जैसे—खाना, पीना, काम धन्धा, विषय-भोगादि करना पड़े, उन कार्यों में आसक्त न होवे अपना सुख न समझे, तथा अधिकाधिक विषय-भोग की चाह इच्छा न करना अपना कर्तव्य समझे। जितने अंश में मन आसक्त हो जाय, उस आसक्ति के दर्शक रहे। यदि अनासक्त रहना दुःसाध्य प्रतीत हो तो कम से कम अपने ज्ञायक मात्र साक्षी स्वभाव का भान न भूलना न चाहिये। जैसे—

समकित दृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्ब प्रतिपाल,
अन्तरंग न्यारो रहे, ज्यूं धाय खिलावे बाल।

रोगी जैसे—रोग से मुक्त होने के लिये औषधादि का सेवन करता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि मनुष्य भोगावली कर्मों के बंधन से छूटने के लिये रूखे परिणामों से विषयादि भोगता है। उदयाधीन कर्मों के भोग को भोगते हुए उनके बंधन से मुक्त होना ही उसका उद्देश्य है। तथा अपने ज्ञाता दृष्टा मात्र त्रिका-

लिक स्वभाव का स्मरण करते हुए, अपने विशुद्ध स्वरूप का पूर्ण विकाश करना है, ऐसा अपना लक्ष्य स्थिर करता है।

इस प्रकार अपने त्रिकालिक पारिणामिक स्वभाव को अर्द-अन्य औदयिक विभावों से क्रमशः रहित करते हुए शुद्ध से शुद्धतर तथा शुद्धतम किया जा सकता है। ज्ञानी की ऐसी विचार-धारा रहने कारण आगम में कहा है, कि–ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है, तथा अज्ञानी का तप कर्म बन्ध का हेतु है। क्योंकि ज्ञानी उदयानुसार विषयादि भोग कर उन कर्मों से, विषयों से छूटना चाहता है अतः उसके निर्जरा होती है। किन्तु अज्ञानी तपश्चर्या के द्वारा देवादि के क्षणिक सुखों की कामना करता है, अतः उसे तप बंधन रूप होता है।

होत आसवा परिस्रवा, नहीं इनमें सन्देह।
मात्र दृष्टि की भूल है, भूल गये गत एह॥
—श्री राजचन्द्र

श्री सहजानंद कृत—

विनती पद

हो प्रभु जी, मुझ भूल माफ करो।
नहीं हूँ योगी नहीं हूँ भोगी, तारो दास खरो। हो०।
नहीं हूँ रोगी नहीं हूँ निरोगी, मारी पीड़ हरो। हो०।
तुम गुण पागी सुरता जागी, नाथ हवे उद्धरो। हो०।
दर्शन दीजे ढील न कीजे, दिल नुं दर्द हरो। हो०।
अमी रस प्यारी मुद्रा तारी, निशदिन नयन ठरो। हो०।
आवी स्वामी मुझ उर मांही, सहजानंद भरो। हो०।

ॐ नमः

सम्यग्दृष्टि मनुष्य के साधन स्वरूप तीन समताभाव।

किं दानेन तपोभिर्वा यमैश्च नियमैश्च किम् ?
एकैव समता सेव्या तरी संसार वारिधौ॥

श्री यशोविजय कृत-अध्यात्मसार प्रबंध ३, श्लोक ३६।

भावार्थ—संसार रूपी समुद्र में जिसके पास समता रूपी जहाज है, इसे दान, तप, यम, नियमादि से क्या ?

१—आत्मवत् सर्व भूतेषु :—संसार में रहे हुए प्राणी मात्र की आत्मा अपनी आत्मा के सदृश है। शरीरादि का जो भेद दिखाई देता है, वह अपने-अपने कर्मों के उदयानुसार है। प्रत्येक जीव में जो विचित्रता पाई जाती है, वह सब कर्मजन्य है। मूलतः वस्तुतः सभी जीव समान हैं। अतः मनुष्य को सभी जीवों के प्रति निर्वैर बुद्धि रखनी आवश्यक है। सब सुखी हों, सब को आत्म कल्याण का सन्मार्ग प्राप्त हो। ऐसी सद्विचार धारा को भावदया कहते हैं। जैसे—श्री देवचन्द्र कृत स्नात्र-पूजा में—'सवि जीव करूं शासन रसी, ऐसी भाव दया मन उल्लसी,' पद से समझ लें।

सभी जीवों के प्रति अहिंसक वर्त्ताव रखना कर्तव्य है। जैसे—चलना, फिरनादि सभी शारीरिक, वाचिक, मानसिक कार्य उपयोग रख कर यत्न से करना, जिससे किसी को कष्ट न पहुंचे। इसे व्यवहार दया कहते हैं।

२—दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगत-स्पृहः।
वीतराग-भय-क्रोध स्थिरधीर्मुनिरुच्यते॥
गीता (२।५७) से।

मनुष्य को क्षणिक सुखों में अपना सुख न मानना तथा दुख, भय, शोकादि में दुःख न मानना कर्तव्य है। उसे ऐसा मानसिक संयम करना होगा कि समस्त सांसारिक सुखों को निस्पृह होकर तथा समस्त दुःखों को अनुद्विग्न चित्त से सह सके ऐसे मानसिक संयम की आराधना करने से क्रमशः उसकी वीतराग दशा प्रगट होगी।

३—सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः तत्त्वार्थसूत्र

भावार्थ—जीवादि तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा करना, उन्हें यथार्थतया जानना तथा तदनुकूल आचरण में स्थिरता ही मोक्ष मार्ग है।

अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को निश्चय से ऐसा मानना कि आत्मसत्ता में केवलज्ञान बीजरूप से रहा हुआ है तथा समस्त श्रुतज्ञान का आधार आत्मा है, ऐसी आन्तरिक श्रद्धा-प्रतीति निश्चय सम्यग् दर्शन है, अपने चेतन-ज्ञाता दृष्टा मात्र त्रिकालिक स्वभाव का अनुभव होना निश्चय से सम्यक् ज्ञान है तथा उस अनुभव ज्ञान में समाधिस्थ रहना या शुक्लध्यान में रमण करना ही निश्चय से सम्यक् चारित्र है। यह निश्चित मोक्ष-मार्ग है। ऐसे तीनों समताभाव में आन्तरिक श्रद्धा रखनेवाला

मनुष्य सम्यग्दृष्टि है। ऐसा सम्यग् दृष्टि मनुष्य अपनी आत्मिक शक्ति का दो घड़ी पर्यन्त सद् उपयोग करे तो उसे भाव से सामायिक व्रत, तथा दिन-रात वैसी साधना करे तो पौषध व्रत कहते है। तथा जीवन पर्यन्त उस शुद्ध भावना में प्रयत्न करना ही साधु जीवन-सची अखण्ड साधना है। करेमि भंते पाठ पूर्वक दो घड़ी पर्यन्त एक आसन में बैठकर स्वाध्याय जपादि करना द्रव्य से व्यवहार-सामायिक है।

पूनीया श्रावक के ऐसे सामायिक का मूल्य बताते हुए, भगवान महावीर ने राजा श्रेणिक से कहा था कि, तुमारे राज्य के सब धन से भी ऐसे सामायिक का मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। तात्पर्य यह है कि निश्चय सामायिक से आत्मा को चिर शान्ति एवं अनुपम आनन्द प्राप्त होता है, तो धन से अशान्ति एवं दुखदायी सुख।

भव्य जन! आपको कौन-सा सुख प्रिय हो सकता है, इसका निर्णय आप स्वयं करें।

> शुद्धता विचारे ध्यावे, शुद्धता में केलि करे,
> शुद्धता में स्थिर रहे, अमृतधारा बरसे।
>
> —श्री राजचन्द्र

इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्ता में शक्ति रूपसे रहे हुए केवलज्ञानादि स्वरूपकी शुद्धता का विचार करते हैं, उसका ध्यान करते है तथा उसमें स्थिर रहते हैं, वे अनुभव रूप अमृतधारा में स्नान कर पुलकित होते है, तथा विभोर होकर

सहजानन्द दशा में रमते हैं। कैसी अपूर्व शान्ति, कैसा अपूर्व आनन्द है, वर्णनातीत अवस्था है।

आतम भावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे।
　　　　　　　　　　　　　　—श्री राजचन्द्र

सचेष्ट रहकर इस प्रकार आत्म भावना भाने वाला मनुष्य, यथासमय अपने केवलज्ञान स्वभावको प्रगट करेगा, तथा जब तक उसे संसार में रहना पड़ेगा, वह सुखी रहेगा। जैसे धान्य के लिये खेती करने वाले किसान को घास-फूँस मुफ्त में मिलता ही है।

श्री सहजानन्द कृत —

अजपा प्रतीक पद

हंसा ! तुझ समरण मुझ प्यारो, तुझ स्मरणे भव पारो ॥हंसा॥
जाणे छे आबाल भावथी, खीर नीर व्यवहारो,
पय पात्रे जल भरने त्यागी, करे तूं दुग्धाहारो ॥ हंसा ॥
योगी जन तुझ लक्ष धरीने, छोड़ी सब जंजालो,
प्राण वाणी रस तुझ पद जपता, करे जड़ चेतन फालो ॥हंसा॥
ज्ञान ज्योत प्रगटे घट अन्दर, वरसे अमृत धारो,
मन मयूर हर्षे अति नाचत, अनहद जीत नगारो ॥ हंसा ॥
गगने आसन दिव्य सुगन्धी, सिद्धि तणो नहीं पारो।
रोम छतां तेमां नहीं अटके, सहजानन्द सवारो ॥ हंसा ॥

ॐ शान्ति

अहिंसा परमोधर्मः

अहिंसा आठ प्रकार की है। जैसे :—स्वरूपदया, अनुबंध दया, द्रव्यदया, भावदया, स्वदया, परदया, व्यवहारदया, निश्चयदया।

१. स्वरूपदया—करुणा बुद्धि से दीन दुःखी को भोजन, कपड़ादि देना, रोगीको दवादि देना तथा बालकों को सत् शिक्षादि का प्रबन्ध करना।

२. अनुबंधदया—हित बुद्धि से गुरुजन का बालक को दण्ड देना तथा मंदिर, उपाश्रयादि बनाना।

३. द्रव्यदया—छः काय के जीवों के प्राणों की रक्षा करने की भावना। जैसे, अभयदानादि।

४. भावदया—सब जीवों को आत्म-कल्याण का सत्य मार्ग प्राप्त हो ऐसी भावना। इस भावना से मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म तक उपार्जन कर सकते हैं।

५. स्वदया—अपनी आत्मा की मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय से रक्षा करना, तीन शल्यों को त्यागकर सर्वज्ञ भाषित धर्म का अनुष्ठान करना।

६. परदया—अन्य मनुष्यों को उपदेशादि के द्वारा स्वदया रूप धर्म का मार्ग बतला कर उन्हें धर्म में स्थिर करना पर दया है।

७. व्यवहार दया—शारीरिक, वाचिक, मानसिक सभी कार्य यत्नापूर्वक करना, जिससे छ काय के जीवों की हिंसा न हो तथा किसी को कष्ट न हो। पाँच समिति पूर्वक सब कार्य करना जैसे—इर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आयाण भंड निक्षेप समिति, पारिष्ठापनिका समिति।

८. निश्चय दया—आत्मा है। आत्मा नित्य है। वह ज्ञानादिका कर्त्ता है। सत्‌चित् आनन्द का भोक्ता है। उसका मोक्ष है। मोक्ष का उपाय सम्यग् दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप समाधि है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति पूर्वक आत्म ध्यान में शुक्ल ध्यान में स्थिति रहे, उसे निश्चय दया कहते हैं। इससे संचित कर्मों की अधिकाधिक सकाम निर्जरा होती है। अंत में केवलज्ञान प्रगट होता है।

श्री राजचन्द्रकृत 'आत्मसिद्धि गुजराती' से हिन्दीसविस्तार

१. आत्मा है—जैसे—शरीर, घट, पटादि पदार्थ हैं, वैसे आत्मा भी है। जैसे शरीरादि अपने गुणों से प्रमाणित है वैसे ही आत्मा भी स्व-पर प्रकाशक चेतन शक्ति प्रत्यक्ष गुण से प्रमाणित है।

२. आत्मा नित्य है—आत्मा त्रिकालिक द्रव्य है, तथा स्वभाविक पदार्थ है। क्योंकि आत्मा की उत्पत्ति में, कोई संयोग अनुभव में नहीं आता। कोई भी संयोगी द्रव्य से चेतन सत्ता प्रगट होने योग्य नहीं, अतः अनुत्पन्न है, असंयोगी होने से अविनाशी है। क्योंकि जिसकी किसी संयोगसे उत्पत्ति नहीं,

उसका किसी से नाश भी नहीं। अतः आत्मा चेतन सत्ता की अपेक्षा से नित्य है।

३. आत्मा कर्ता है सब पदार्थ अर्थ क्रिया सम्पन्न हैं। आत्मा भी क्रिया सम्पन्न हैं, अतः कर्ता है। श्री सर्वज्ञदेव ने व्यवहार की अपेक्षा से जीव को छ प्रकार कर्ता कहा हैं, तथा निश्चय-परमार्थ की अपेक्षा से मात्र केवल ज्ञानादि स्वभाव का कर्ता कहा है।

(१) अशुद्ध व्यवहार से—जीव भावकर्म मात्र का कर्ता है। जैसे—उसे शरीर में पौद्गलिक पदार्थों में मोह-ममता, राग द्वेष रूप विषम परिणाम होता है।

(२) अनुपचरित व्यवहार से—जीव आठ द्रव्य कर्मों का कर्ता है। वह कर्म फलस्वरूप मन, वचन कायादि का कर्ता है।

(३) उपचरित व्यवहार से—जीव स्त्री, पुत्र, धन, घर, नगरादि का कर्ता है।

(४) अशुभ व्यवहार से—जीव संरम्भ, समारंभ, आरंभ का कर्ता, १८ पाप स्थानक, १५ कर्मादानों का कर्ता तथा आर्त, रौद्र ध्यान का कर्ता है।

(५) शुभ व्यवहार से—जीव दान, शील, तप, भाव का कर्ता तथा श्रावक के १२ व्रत या साधु के पंच महाव्रतादि का कर्ता है। तथा धर्म ध्यान—आत्म ध्यान का कर्ता है।

(६) शुद्ध व्यवहार से—आत्मा सम्यग् दर्शन-ज्ञान में रमणता रूप चारित्र तथा स्थिरता रूप तप में पुरुषार्थ कर्ता तथा

(१) भाव सामायिक संयम, (२) छेदोपस्थाप्य संयम, (३) परिहार विशुद्धि संयम, (४) सूक्ष्म-सम्पराय संयम, (५) यथाख्यात संयम, तथा शुक्ल ध्यान का कर्त्ता है।

अनादि काल से जीव अशुद्ध, अनुपचरित, उपचरित तथा अशुभ व्यवहार करता आया है। फलस्वरूप संसार भ्रमण करता है। मनुष्य को इन चारों व्यवहार में कर्तापन के अभिमान को त्याग कर क्रमशः उदय में आनेवाले कर्मों में अव्यापक रह कर साक्षी रूप से वर्तना कर्त्तव्य है। कर्मों के उदयकाल में साक्षी रूप से रहने से बंधे हुए कर्म फल देकर नष्ट हो जायेंगे। तथा नये चीकने कर्म न बंधेंगे। शुभ व्यवहार सीढ़ी रूप हैं। सीढ़ी, ऊपर चढ़ने के लिये साधन मात्र होती हैं।

शुद्ध व्यवहार आत्मा का विकाश क्रम है, जिससे आत्मा शुद्ध से शुद्धतर अवस्था को (गुणस्थानक) प्राप्त कर अन्त में अपने निश्चय स्वरूप केवल ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को प्रगट कर लेता है।

४—आत्मा भोक्ता है—जैसी-जैसी क्रिया एवं अध्यवसाय जीव करता है, वैसा-वैसा फल वह भोगता है। जैसे—अशुभ भाव करने से पाप बंधता है, फल स्वरूप दुःख पाता है। शुभ भाव से पुण्य बंधता है, फलस्वरूप सुख पाता है। वैसे ही कषायादि या अकषायादि जिस किसी अध्यवसाय में वह रमता हैं, उसका वैसा ही फल उसे भोगना पड़ता है।

५—आत्मा का मोक्ष है—जिसअनुपचरित व्यवहार से

जीव को आठ कर्मों का कर्त्ता कहा, तथा कर्त्तापन होने से उसके फल को भोक्ता कहा। वैसे ही शुद्ध व्यवहार से क्रमशः चार घाति कर्म नष्ट होकर केवलज्ञान प्रगट होता है। बाद में आयु आदि चार कर्मों के अंत होने से जीव जन्म मरण से हमेशा के लिये मुक्त हो जाता है।

६—मोक्ष का उपाय—सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्ररूप समाधि से, सकामनिर्जरा से, आत्मध्यान से, शुक्लध्यान से जीव मुक्त होता है।

श्रीसर्वज्ञदेव ने इन छ पदों को सम्यग् दर्शन का मुख्य निवास स्थान कहा है। समीप मुक्तिगामी मनुष्य के सहज विचार में जीव के ये छ स्थानक सप्रमाण भासते हैं। आत्म स्वरूप को विस्तार से समझने के लिये तथा इनमें सन्देह रहित श्रद्धा करने के लिये ज्ञानी पुरुषों ने ऐसा वर्णन किया है।

अनादि मोहदशा—स्वप्नदशा से, उत्पन्न मनुष्य को अहं-भाव, ममत्वभाव होने के कारण उसे स्वच्छंदता प्रिय है, उससे निवृत्त होने के लिये, आत्म स्वरूप के छ स्थानकों का विवेचन किया।

मोहदशा-स्वप्नदशा से रहित, चेतन लक्षण युक्त ज्ञाता दृष्टा मात्र निज आत्म स्वरूप है। ऐसी जिसकी परिणाम-धारा हो, उसकी आत्मा जागृत होकर सहज में सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रकट करता है। तब किसी भी अशुद्ध, विनाशी, कल्पित भाव में उसे हर्ष, शोक, अपनापन नहीं होता। विनाशी परवस्तु के प्रथ

में उसे इष्टानिष्ट बुद्धि नहीं होती। रोग, शोक, जन्म जरा मृत्यु से परे अपने आत्म स्वरूप को जानता है, तथा अपने आत्म स्वरूप को विशुद्ध, सम्पूर्ण, अविनाशी, सहजानन्दी मानता है, वेदता है, तब कृतार्थ हो जाता है।

सारांश—सर्वज्ञदेव के आज्ञानुसार जो सत् पुरुष हेय-छोड़ने योग्य अध्यवसाय तथा कार्य, जैसे—अशुद्ध, अनुपचरित उपचरित तथा अशुभ व्यवहार को त्याग देते हैं, या त्यागने का प्रयत्न करते हैं, तथा उपादेय-आदरने योग्य अध्यवसाय एवं कार्य्य जैसे शुभव्यवहार-बाह्य चारित्र तथा शुद्ध व्यवहार रूप अन्तर संयम करते हैं। वे सत् पुरुष यथासमय सब घाति कर्मों का नाश कर अपने केवल ज्ञान-दर्शन स्वरूप को प्रगट करके तथा आयु आदि कर्मों के अंत होने पर जन्म, जरा मृत्यु से तथा सब दुःखों से मुक्त होंगे।

श्रीदेवचन्द्र कृत—

समकित की सज्झाय

समकित नवि लह्यु रे, एतो रुल्यो चतुर्गति माहि ।।सम०।।
त्रस स्थावर की करुणा कीनी, जीवन एक विराध्यो,
तीन काल सामायिक करता, शुद्ध उपयोग न साध्यो।सम०।।
झूठ न बोलवा को व्रत लीनो, चोरी नो पण त्यागी,
व्यवहारादिक महा निपुण भये, अन्तर्दृष्टि न जागी। सम०।।
ऊर्ध्व बाहु कर उंधे लटके, भस्मी लगा धूम गटके,
जटाजूट शिर मुंडे जूठे, विण श्रद्धा भव भटके। सम०।।
निज पर नारी त्याग करके, ब्रह्मचर्य व्रत लीधो,
स्वर्गादिक याको फल पामी, निज कारज नवी सीध्यो। सम०।।
बाह्य क्रिया सब त्याग परिग्रह, द्रव्यलिंग धरलीनो,
कहे या विध तो हम, बहुत वार कर लीनो। सम०।।

	छोड़ने योग्य हेय (अशुभ) हैं।	जानने योग्य ज्ञेय (शुभ) है।	आदरने योग्य उपादेय (शुद्ध) ६
	मिथ्यादृष्टि मनुष्य का भाव।	व्य०सम्यग्दृष्टि मनुष्यकाभाव	नि०सम्यग्दृष्टि मनुष्यका भाव
१	रूपी पदार्थों में, शरीरादि में मोह-ममता, तीव्र रागद्वेष होना	रूपी पदार्थों में,शरीरादिमें मोह ममता, मन्द राग द्वेष होना।	रूपी पदार्थों में, शरीरादिमें मोह नहीं,अल्प राग द्वेष होना।
२	विद्या, धन, बलादिमें मद-स्वाभिमान होना।	पंच परमेष्ठिमें विनय-भक्ति। धनादि में अल्प अभिमान।	आत्मा-परमात्मा में समभाव। विद्या, धनादिमें अभिमान नहीं
३	धनादिमें मूर्छा-तीव्र लोभ होना	धनादि में सीमित लोभ होना।	धनादिमें मध्यस्थभाव होना।
४	लोभवश माया, प्रपंच करना।	जहां तक बने सरल जीवन।	सरल, निष्कपट जीवन।
५	बाधक व्यक्ति वस्तु, परिस्थिति में क्रोधादि भाव।	प्रतिकूलता में क्षमा रखना।	क्षमा भावमय जीवन।
६	फलस्वरूप रौद्रध्यान होना।	मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थ भाव रहना।	परमें इष्टानिष्टभाव नहीं होना
७	लोभवश आर्त ध्यान होना।	अनित्यादि १२ भावना करना।	कर्मों के उदय में अव्याप्तक।
८	शरीर में ही अपना अस्तित्व मानने की भूल के कारण सर्वज्ञ के आज्ञाकी उपेक्षा कर विषय सुखों की लालसा पूर्ति के लिये स्वच्छन्द जीवन बितानेवाला मनुष्य मिथ्या-दृष्टि है।	सर्वज्ञ प्रवचन को पढ़ना सद्गुरु से समझना, स्मरण, मनन करना, तथा सत्संग कर धर्म चर्चा करना। आत्महित के लिये धार्मिक — जीवनवाला मनुष्यव्यवहारसे सम्यग्दृष्टि है	स० ज्ञान-जीवादि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान होना। स० दर्शन-शुद्ध आत्म स्वरूपपर श्रद्धा-प्रतीति रहना। स० चारित्र—निज ज्ञानादि स्वभाव में रमण करना। स०तप—इच्छाओंको रोकना।

अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान-अनालोचना।

प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचना

लेखक सद्गुरु श्री सहजानन्द।

१. अप्रतिक्रमण—अतीतकाल मां जे पर द्रव्यो नुं ग्रहण कर्युं हतुं तेमने वर्तमान मां सारा जाणवा, तेमना संस्कार रहेवा, तेमना प्रत्ये ममत्व रहेवुं, ते द्रव्य अप्रतिक्रमण छे। अने ते पर द्रव्यो ना निमित्ते जे रागादि भावो थया हता, तेमने वर्तमानमां भला जाणवा, तेमना संस्कार रहेवा तेमना प्रत्ये ममत्व रहेवुं ते भाव अप्रतिक्रमण छे।

१—प्रतिक्रमण—पूर्वे लागेला दोषथी आत्मा ने पाछो वालवो तेने प्रतिक्रमण कहे छे।

२—अप्रत्याख्यान—भविष्यकाल सम्बंधी परद्रव्यो नी वांछा राखवी ममत्व राखवुं ते द्रव्य अप्रत्याख्यान छे। अनेते पर द्रव्योंना निमित्ते भावि मां थनारा जे रागादि भावो, तेमनी वांछा राखवी, ममत्व राखवुं ते भाव अप्रत्याख्यान छे।

(२) प्रत्याख्यान—भविष्य मां दोष लगाड़वानो त्याग करवो ते प्रत्याख्यान छे।

(३) अनालोचना—वर्तमान मां जे पर द्रव्यो ग्रहण पणे वर्ते छे, तेमने सारा जाणवा तेमना प्रत्ये ममत्व राखवुं, ते द्रव्य अनालोचना छे। अनेते पर द्रव्यो ना निमित्ते जे रागादि भावो वर्तमान मां वर्ते छे, तेमने सारा जाणवा तेमना प्रत्ये ममत्व राखवुं ते भाव अनालोचना छे।

३. आलोचना—वर्तमान ना दोष थी आत्मा ने जुदो राखवो, करवो ते आलोचना छे। ग्रणेकाल ना दोषो थी आत्मा ने अलग राखवो, तेज प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान अने आलोचना छे। मात्र मिच्छामि दुक्कड्म् बोली जवुं ते प्रतिक्रमण न कहवाय। वर्तमान मां उदयेपणे वर्त्तता समस्त प्रसंगो मां साक्षी भावे रहतां, ग्रणेकाल सम्बन्धी दोषो उत्पन्न न थाय, आत्मा अदोषज रहे। आवुं अदोष जीवन जेनु होयते आत्माज प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान अने आलोचना छे। वर्तमान परिस्थिति नो साक्षी भावे उपयोग करे, तेज ज्ञानी कहेवाय। तेथी उल्टुं विषयादि सेवी ने दुरुपयोग करे ते अज्ञानी कहेवाय। प्रत्येक प्रसंग पूर्व कर्मानुसार ज पोतानां वावेला बीज अनुसारज, अनुकूल के प्रतिकूल पणे आवे छे तो पछी तेमां विषम रहेवुं शा माटे? जेम—

१—भगवान महावीर ना जीवे वासुदेव ना भव मां शय्या-पालक ना दोषनी क्षमा आपी होत, साक्षी भावे रह्या होत, तो छेला भव मां कान मां खीला न ठोकाणा होत।

२—जेम के वर्तमान मां राजतिलक नी तैयारी छे। त्यां एकदम श्री रामचन्द्रजी ने वनवास उदय आव्यो, जेने समता थी वधावी लेना, भूतकाल ना कर्मो वर्तमान मां भोगवाई जई, भावि संसार ना बीज न थयां। जो राज नो लोभ सेव्यो होत तो नवो संसार तैयार थात, अने मुक्त न थया होत।

ॐ सहजानन्द।

अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान-अनालोचना ।

प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचना

लेखक सद्गुरु श्री सहजानन्द ।

१. अप्रतिक्रमण—अतीतकाल मां जो पर द्रव्यो नुं ग्रहण थंयुं हतुं तेमने वर्तमान मां सारा जाणवा, तेमना संस्कार रहेवा, तेमना प्रत्ये ममत्व रहेवुं, ते द्रव्य अप्रतिक्रमणछे। अने ते पर द्रव्यो ना निमित्ते जे रागादि भावो थया हता, तेमने वर्तमानमां भला जाणवा, तेमना संस्कार रहेवां तेमना प्रत्ये ममत्व रहेवुं ते भाव अप्रतिक्रमण छे।

१—प्रतिक्रमण—पूर्वे लागेला दोषथी आत्मा ने पाछो वालवो तेने प्रतिक्रमण कहे छे।

२—अप्रत्याख्यान—भविष्यकाल सम्बंधी परद्रव्यो नी वांछा राखवी ममत्व राखवुं ते द्रव्य अप्रत्याख्यान छे। अनेते पर द्रव्योंना निमित्ते भावि मां थनारा जे रागादि भावो, तेमनी वांछा राखवी, ममत्व राखवुं ते भाव अप्रत्याख्यान छे।

(२) प्रत्याख्यान—भविष्य मां दोष लगाड्वानो त्याग करवो ते प्रत्याख्यान छे।

(३) अनालोचना—वर्तमान मां जे पर द्रव्यो ग्रहण पणे वर्ते छे, तेमने सारा जाणवा तेमना प्रत्ये ममत्व राखवुं, ते द्रव्य आनालोचना छे। अनेते पर द्रव्यो ना निमित्ते जे रागादि भावो वर्तमान मां वर्ते छे, तेमने सारा जाणवा तेमना प्रत्ये ममत्व राखवुं ते भाव अनालोचना छे।

३. आलोचना—वर्तमान ना दोष थी आत्मा ने जुदो राखवो, करवो ते आलोचना छे। त्रणेकाल ना दोषो थी आत्मा ने अलग राखवो, तेज प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान अने आलोचना छे। मात्र मिच्छामि दुक्कड़म् बोली जवुं ते प्रतिक्रमण न कहवाय। वर्तमान मां उदयेपणे वर्त्तता समस्त प्रसंगो मां साक्षी भावे रहतां, त्रणेकाल सम्बन्धी दोषो उत्पन्न न थाय, आत्मा अदोषज रहे। आवुं अदोष जीवन जेनु होयते आत्माज प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान अने आलोचना छे। वर्तमान परिस्थिति नो साक्षी भावे उपयोग करे, तेज ज्ञानी कहेवाय। तेथी उल्टुं विषयादि सेवी ने दुरुपयोग करे ते अज्ञानी कहेवाय। प्रत्येक प्रसंग पूर्व कर्मानुसार ज पोताना वावेला बीज अनुसारज, अनुकूल के प्रतिकूल पणे आवे छे तो पछी तेमां विषम रहेवुं शा माटे? जेम—

१—भगवान महावीरना जीवे वासुदेव ना भव मां शय्या-पालक ना दोषनी क्षमा आपी होत, साक्षी भावे रह्या होत, तो छेल्ला भव मां कान मां खीला न ठोकाणा होत।

२—जेम के वर्तमान मां राजतिलक नी तैयारी छे। त्यां एकदम श्री रामचन्द्रजी ने वनवास उदय आव्यो, जेने समता थी वधावी लेता, भूतकाल ना कर्मो वर्तमान मां भोगवाई जई, भावि संसार ना बीज न थयां। जो राज नो लोभ सेव्यो होत तो नवो संसार तैयार थात, अने मुक्त न थया होत।

ॐ सहजानन्द।

अष्टाङ्ग योगपर आत्मिक दृष्टि

लेखक—सद्गुरु श्री सहजानन्द।

आत्म प्रतीति विना, आत्म ध्यान नो संभव नथी। आत्म प्रतीति माटे योग मार्ग नु आचरण कार्यकारी छे।

'दृष्टि अने द्रष्टानुं अभेद थई जवुं ते योग छे'। हठ ने राज ए बे मुख्य भेदो योग ना पड़वाय छे। हठयोग प्रबल परक, अने राजयोग सहज अभ्यास छे। (१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, आचारे अंगोनो समूहने हठयोग कहे छे। यम—पंच महाव्रतनी इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिति अने सिद्धि थई बाह्य वृत्तियों नुं नियमन ते यम। अंतरंग वृत्तियो नुं नियमन ते नियम छे। देहाध्यासनुं नियमन ते आसन छे। अने भाव प्राणो नुं नियमन ते प्राणायाम छे। आत्मध्याननुं आ हठयोग निमित्त कारण छे। अने राजयोग उपादान कारण छे—

(१) प्रत्याहार, (२) धारणा, (३) ध्यान, (४) समाधि, आचारे अंग परक राजयोग छे—प्रत्याहार—चित्तवृत्ति प्रवाह नुं निज उद्गम स्थान आत्माभिमुख थवुं ते प्रत्याहार, जेम—

> मच्छ-वेध माथकपरे, सामेपूर तराय।
> जाणनार जोणार मां सुरता एम ठराय॥

चित्तवृत्ति प्रवाहनुं आत्मा मां मळी रहेवुं, ते धारणा छे। आत्मानी आत्मभावे स्थिरता ते ध्यान छे। आत्मानुं अव्याबाध समाधान ते समाधि छे। आत्मीय उपादान कारणनुं कार्यरूपे परिणमन ते मुक्ति।

निज सत्वे एकत्वता, उदये अव्यापक भाव।
ज्ञाता दृष्टा साक्षीये, उपजे मोक्ष स्वभाव॥

आ अष्टांग योग गुरुगमे समजवा योग्य छे। हठयोग वड़े प्राप्त थती पात्रता भक्तिमार्ग थी अनायास सधे छे। जेथी भक्ति मार्ग, ए राज मार्ग माँ प्रवेशो ने अगम सेवा आत्मध्यान नो सुगम उपाय छे। जे आबाल गोपाल वड़े सु साध्य छे।

'आत्म ध्यान, अध्यात्मज्ञान समो शिव साधन और न कोई।'

श्री सहजानन्दकृत—

भाव दीवाली पद

दिलमां दिवड़ो थाय, स्व पर समजाय,
विभावने टाली, हूँ उजवुं पर्व दीवाली। दिलमां ॥१॥
अस्तित्व गुणे हूँ आत्म प्रभु,
शुद्ध स्व पर प्रकाशक ज्ञान विभु।
मन वच काया थी जुदो, कर्म संग टाली। हूँ उजवुं ॥२॥
नित्यत्व गुणे हूँ अविनाशी,
निर्मल चिन्मय निजगुण राशि।
अकृत्रिम सहज स्वरूपी, अखंड त्रिकाली। हूँ उजवुं ॥३॥
हूँ शुद्ध बुद्ध सुखधाम महा,
हूँ स्वयं ज्योति परिमुक्त अहा।
सहजानन्द कर्ता भोक्ता स्वरूप संभाली। हूँ उजवुं ॥४॥

ॐ सहजानन्द

नव तत्त्व, छ द्रव्य

द्रव्य ६ ये हैं जैसे, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं काल। तत्त्व ६ हैं, जैसे, जीवतत्त्व, अजीवतत्त्व, पाप, पुण्य, आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा, मोक्ष तत्त्व, ये नवतत्त्व हैं।

१—जीवतत्त्व

१—जीव का लक्षण चेतना है। उसका स्वभाव दर्शन-ज्ञान उपयोग है। इस भाव-प्राणरूप स्वाभाविक शक्ति से जीव त्रिकाल जीवित रहता है। जीव असंख्य प्रदेशी द्रव्य है। संख्या में, अनंतानन्त जीव लोकाकाश में है। जीव के और पांच भाव होते हैं, जैसे (१) पारिणामिक स्वभाव, यह जीव के सर्वदा रहता है। (२) औदयिक विभाव, यह जीव के संसारी अवस्था में रहता है। यह विभाव कर्मों के संयोग से जीव के होता है, तथा उसके पारिणामिक स्वभाव में दूध में पानी की तरह मिला रहता है। (३) क्षायोपशमिक भाव-जीव के कर्मोदय के समय उसे फल देकर कुछ कर्म नाश हो जाते है तथा कुछ दबे रह जाते हैं, उसे क्षय-उपशम भाव कहते हैं। जीव के संसारी अवस्था में सर्वत्र केवलज्ञान होने से पहले रहता है। (४) औपशमिक भाव या (५) क्षायिक भाव, ये भाव जीव को सम्यग् दर्शन के पहले नहीं होते है, इन सब भावों को जीव के भाव प्राण कहते हैं।

जीव के द्रव्य प्राण दस तक हो सकते है, जैसे कान, आँख,

नाक, जीभ, त्वचा ये पाँच इन्द्रियाँ, मनबल, वचनबल, कायाबल श्वांस, तथा आयु, एवं कम-से-कम चार होते हैं शरीर, श्वांस, आयु, कायबल। इनके आधार से जीव संसार भ्रमण करता है। जीव के दो भेद हैं, पहला संसारी जीव वह है जो आठ कर्मों के संयोग से जन्म-मरण करता है। संसारी जीवों के १४, या विस्तार से ५६३ भेद हैं। जैसे, क्षेत्रों की अपेक्षा से मनुष्य के ३०३ भेद हैं। चार निकाय के देवों के १९८ भेद हैं। सात नरक के १४ तथा तीर्यंच गति के जीवों के ४८ भेद हैं। विस्तार से जानना हो तो तत्त्वार्थ सूत्र देखें।

जीव कर्ता है, प्रत्येक जीव अष्ट कर्मोंका कर्ता है। अपने शुभाशुभ कर्मानुसार ऊँचीसे ऊँची स्थिति जैसे इन्द्रादि, नीची स्थिति, जैसे, नरक या कीट-पतंगादि से निगोद तक समझें। अतः इसे अपना ईश्वर बनाने विगाड़ने वाला भी कह सकते हैं। यह सब जीव का विभाव में कर्तापन है। जीव जब अपने ज्ञानादि स्वाभाव मात्र का कर्ता होता है, तब केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। तब वह अपने ज्ञानादि ऐश्वर्यवाला है अतः इसे ईश्वर कहा जा सकता है।

दूसरे मुक्त जीव हैं, जो सब कर्मों को नाश करके अपने केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंत रमणता, अनंत स्थिरता गुणोंमें तथा परमानन्द, अजरामर, निरंजन-निराकार-निर्विकार, अगुरुलघु पर्याय में लोक के अन्त में स्थित हैं। वे सर्वदा वैसे ही रहेंगे, ऐसे सिद्ध -जीव अनन्त हैं। इनके विशुद्ध पारिणामिक, क्षायिक भाव होते हैं।

नव तत्त्व, छ द्रव्य

द्रव्य ६ ये हैं जैसे, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं काल। तत्त्व ९ हैं, जैसे, जीवतत्त्व, अजीवतत्त्व, पाप, पुण्य, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा, मोक्ष तत्त्व, ये नवतत्त्व हैं।

१—जीवतत्त्व

१—जीव का लक्षण चेतना है। उसका स्वभाव दर्शन-ज्ञान उपयोग है। इस भाव-प्राणरूप स्वाभाविक शक्ति से जीव त्रिकाल जीवित रहता है। जीव असंख्य प्रदेशी द्रव्य है। संख्या में, अनंतानन्त जीव लोकाकाश में हैं। जीव के और पाँच भाव होते हैं, जैसे (१) पारिणामिक स्वभाव, यह जीव के सर्वदा रहता है। (२) औदयिक विभाव, यह जीव के संसारी अवस्था में रहता है। यह विभाव कर्मों के संयोग से जीव के होता है, तथा उसके पारिणामिक स्वभाव में दूध में पानी की तरह मिला रहता है। (३) क्षायोपशमिक भाव-जीव के कर्मोदय के समय उसे फल देकर कुछ कर्म नाश हो जाते हैं तथा कुछ दबे रह जाते हैं, उसे क्षय-उपशम भाव कहते हैं। जीव के संसारी अवस्था में सर्वत्र केवलज्ञान होने से पहले रहता है। (४) औपशमिक भाव या (५) क्षायिक भाव, ये भाव जीव को सम्यग् दर्शन के पहले नहीं होते हैं, इन सब भावों को जीव के भाव प्राण कहते हैं।

जीव के द्रव्य प्राण दस तक हो सकते हैं, जैसे कान, आँख,

नाक, जीभ, त्वचा ये पाँच इन्द्रियाँ, मनबल, वचनबल, कायाबल श्वांस, तथा आयु, एवं कम-से-कम चार होते हैं शरीर, श्वांस, आयु, कायबल। इनके आधार से जीव संसार भ्रमण करता है। जीव के दो भेद हैं, पहला संसारी जीव वह है जो आठ कर्मों के संयोग से जन्म-मरण करता है। संसारी जीवों के १४, या विस्तार से ५६३ भेद हैं। जैसे, क्षेत्रों की अपेक्षा से मनुष्य के ३०३ भेद हैं। चार निकाय के देवों के १९८ भेद हैं। सात नरक के १४ तथा तीर्यंच गति के जीवों के ४८ भेद हैं। विस्तार से जानना हो तो तत्त्वार्थ सूत्र देखें।

जीव कर्ता है, प्रत्येक जीव अष्ट कर्मोंका कर्ता है। अपने शुभाशुभ कर्मानुसार ऊँचीसे ऊँची स्थिति जैसे इन्द्रादि, नीची स्थिति जैसे, नरक या कीट-पतंगादि से निगोद तक समझें। अतः उसे अपना ईश्वर बनाने बिगाड़ने वाला भी कह सकते हैं। यह सब जीव का विभाव में कर्त्तापन है। जीव जब अपने ज्ञानादि स्वाभाव मात्र का कर्त्ता होता है, तब केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। तब वह अपने ज्ञानादि ऐश्वर्यवाला है अतः उसे ईश्वर कहा जा सकता है।

दूसरे मुक्त जीव हैं, जो सब कर्मों को नाश करके अपने केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंत रमणता, अनंत स्थिरता गुणोंमें तथा परमानन्द, अजरामर, निरंजन-निराकार-निर्विकार, अगुरुलघु पर्याय में लोक के अन्त में स्थित हैं। वे सर्वदा वैसे ही रहेंगे, ऐसे सिद्ध जीव अनन्त हैं। इनके विशुद्ध पारिणामिक, क्षायिक भाव होते हैं।

नव तत्त्व, छ द्रव्य

द्रव्य ६ ये हैं जैसे, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं काल। तत्त्व ६ हैं, जैसे, जीवतत्त्व, अजीवतत्त्व, पाप, पुण्य, आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा, मोक्ष तत्त्व, ये नवतत्त्व हैं।

१—जीवतत्त्व

१—जीव का लक्षण चेतना है। उसका स्वभाव दर्शन-ज्ञान उपयोग है। इस भाव-प्राणरूप स्वाभाविक शक्ति से जीव त्रिकाल जीवित रहता है। जीव असंख्य प्रदेशी द्रव्य है। संख्या में, अनंतानन्त जीव लोकाकाश में हैं। जीव के और पांच भाव होते हैं, जैसे (१) पारिणामिक स्वभाव, यह जीव के सर्वदा रहता है। (२) औदयिक विभाव, यह जीव के ससारी अवस्था में रहता है। यह विभाव कर्मों के संयोग से जीव के होता है, तथा उसके पारिणामिक स्वभाव में दूध में पानी की तरह मिला रहता है। (३) क्षायोपशमिक भाव-जीव के कर्मोदय के समय उसे फल देकर कुछ कर्म नाश हो जाते हैं तथा कुछ दबे रह जाते है, उसे क्षय-उपशम भाव कहते हैं। जीव के संसारी अवस्था में सर्वत्र केवलज्ञान होने से पहले रहता है। (४) औपशमिक भाव या (५) क्षायिक भाव, ये भाव जीव को सम्यग् दर्शन के पहले नहीं होते है, इन सब भावों को जीव के भाव प्राण कहते हैं।

जीव के द्रव्य प्राण दस तक हो सकते हैं, जैसे कान, आँख,

लाख जीवायोनियों से जीव अपने-अपने कर्मानुसार जन्मते, मरते, जन्मने रूप धारा प्रवाह में बह रहे हैं, तथा पुद्गलों से भी लोक ठसाठस भरा है; पुद्गल परमाणु इतने सूक्ष्म हैं कि आँख से नहीं दिखते।

(३) धर्मास्तिकाय—जो शक्ति जीवों तथा पुद्गलों की गति में सहायक है। वह लोकाकाश व्यापी, असंख्य प्रदेशी, त्रिकालिक, जड़, एक अजीव द्रव्य है।

(४) अधर्मास्तिकाय—जो शक्ति जीवों तथा पुद्गलों की स्थिरता में सहायक है। वह लोकाकाश व्यापी, असंख्य प्रदेशी, त्रिकालिक, जड़, एक अजीव द्रव्य है।

(५) काल—जो पाँचो द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक है। यह मात्र वर्तमान काल है, भूतकाल तथा भविष्य काल उपचार से कहे जाते हैं।

जणाय ने देखाय जे, तेमां लक्ष न आप,
जाणनार जोनार मां, चेतन ! था थिरथाप। १।
जणाय ने देखाय जे, ते तो पर जड़ रूप,
जाणनार जोनार तुं, सहजानन्द घन भूप। २।
देव गुरु धर्म तुंज, तुं ध्याता ध्येय ने ध्यान,
देह देवल थी भिन्न छे, जेम खड्ग ने म्यान। ३।
पर जड़ लक्ष्य अभ्यासथी, जन्म मरण दुःख थाय,
आप आपना ध्यान थी, जन्म मरण दुःख जाय। ४।
माटे तज पर लक्ष्यने, कर निज लक्ष्य अभ्यास,
प्राण वाणी रगमां मळो, सहजानन्द विलास। ५।

ॐ सहजानन्द।

२—अजीवतत्त्व

२—अजीव तत्त्व का लक्षण जड़ता है, इसके पाँच भेद हैं। जैसे, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल।

(१) पुद्गलास्तिकाय—(Matter) अजीव-जड़ है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श स्वरूप है, मिलने-बिखरने रूप क्षणिक स्वभावी द्रव्य है। इसके चार भेद हैं, स्कंध, देश, प्रदेश, परमाणु। पुद्गल स्कन्ध जीवों से अनंतानंत हैं, परमाणु उनसे अनंतानंत पुरुषा-कार लोकाकाश में ठसाठस भरे पड़े हैं। परमाणु का विभाग या नाश नहीं होता है, किन्तु स्कन्ध, देश, प्रदेशों का प्रति समय विनाश याने इनके रूपों, रसों, गन्धों, स्पर्शों में परिवर्तन हो रहा है। इस क्षण स्थायी स्वभाव के कारण जगत के दृश्यमान पदार्थों में—दिखनेवाले सभी वस्तुओं में रूप से रूपान्तर हो रहे हैं। क्योंकि तमाम रूपी पदार्थ इन पुद्गलों से ही बने हैं, इसलिये विनाशी हैं। अतः इनके क्षणिक सुन्दरता में मोहित होकर मनुष्य को फँसना न चाहिये।

(२) आकाशास्तिकाय—(Space) जिसमें जीव तथा पुद्गलादि पदार्थ रहते हैं, उसे अवकाश-आकाश कहते हैं। यह लोकालोकव्यापी, एक त्रिकालिक अरूपी द्रव्य है। यह अनन्त प्रदेशी, जड़, अजीव द्रव्य है। इसके मध्यमें असंख्य प्रदेशी लोकाकाश पुरुषाकार १४ रज्जुप्रमाण है, जिसमें चार गति जैसे देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति, नरकगति के चौरासी

लाख जीवायोनियों से जीव अपने-अपने कर्मानुसार जन्मते, मरते, जन्मने रूप धारा प्रवाह में बह रहे हैं, तथा पुद्गलों से भी लोक ठसाठस भरा है; पुद्गल परमाणु इतने सूक्ष्म हैं कि आँख से नहीं दिखते।

(३) धर्मास्तिकाय—जो शक्ति जीवों तथा पुद्गलों की गति में सहायक है। वह लोकाकाश व्यापी, असंख्य प्रदेशी, त्रिकालिक, जड़, एक अजीव द्रव्य है।

(४) अधर्मास्तिकाय—जो शक्ति जीवों तथा पुद्गलों की स्थिरता में सहायक है। वह लोकाकाश व्यापी, असंख्य प्रदेशी, त्रिकालिक, जड़, एक अजीव द्रव्य है।

(५) काल—जो पांचो द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक है। वह मात्र वर्तमान काल है, भूतकाल तथा भविष्य काल उपचार से कहे जाते हैं।

जणाय ने देखाय जे, तेमां लक्ष न आप,
जाणनार जोनार गां, चेतन ! था थिरथाप। १।
जणाय ने देखाय जे, ते तो पर जड़ रूप,
जाणनार जोनार तुं, सहजानन्द घन भूप। २।
देव गुरु धर्म तुंज, तूं ध्याता ध्येय ने ध्यान,
देह देवलथी भिन्न छे, जेम खड्ग् ने म्यान। ३।
पर जड़ लक्ष्य अभ्यासथी, जन्म मरण दुःख थाय,
आप आपना ध्यान थी, जन्म मरण दुःख जाय। ४।
माटे तज पर लक्ष्यने, कर निज लक्ष्य अभ्यास,
प्राण जाणी रखमां मळी, सहजानन्द विलास। ५।

ॐ सहजानन्द।

पाप तत्त्व, पुण्य तत्त्व का तुलनात्मक विवेचन

३—पाप—जीव की अशुभ भावनाओं से, आर्तध्यान, रौद्रध्यान से तथा अशुभ क्रियाओं, जैसे, १८, पापस्थानक सेवन, १५, कर्मादानों से जीव के असंख्य प्रदेशों में पाप प्रकृतियाँ बंधती हैं। यह उसे असाता रूप दुःख है। इसका स्वाद जीव को कड़वा लगता है। जीव को पाप के फल ८२ प्रकार से भोगने पड़ते हैं।

४—पुण्य—जीव को शुभ भावनाओं से, धर्मध्यान से, तथा शुभ क्रियाओं जैसे, पंच परमेष्ठि को नमस्कारादि से, दया, दान, शील, तप, भावसे ; सदाचार, संतोष से, व्रतादि से साता-रूप वेदनीयादि कर्मों का संयोग जीव के प्रदेशों में होता है, उसे पुण्य कहते हैं। उसका फल जीव को मीठा लगता है, अतः उसे यह सुख कहता है। जीव नौ प्रकार से पुण्य प्रकृति बांधता है, ४२ प्रकार से उसके मीठे फलों को भोगता है। जीव के वचन, काया की क्रिया शुभ हो किन्तु उसके मन के विचार अशुभ हो तो पाप बंधता है।

विवेचन—पाप, पुण्य जीव के अशुभ या शुभ अध्यवसाय का नाम है। जब जीव नीतिसे, धर्मसे अच्छे काम करता है, उसे पुण्य कर्म, तथा अनीतिसे धर्म विरुद्ध कार्य करता है, उसे पाप कर्म कहते है। अतः मनुष्यों को अपने बुरे कार्यों का निरीक्षण करके क्रमशः उन्हें अपने जीवन से बहार निकाल देना कर्तव्य है। उन बुरे कार्यों का मूल कारण विषय लोलुपता,

धन लिप्सा, हिंसावृत्ति आदि उसकी अशुभ भावनाएँ हैं। अतः उनके फलाफल को विचार कर इन भावनाओं को दिल दिमाग से निकाल देना जरूरी है। क्योंकि बुरे कार्य का फल बुरा, अच्छे कार्य का फल अच्छा होता है। अतः विवेकी मनुष्य का कर्तव्य होता है कि, जो भी करे समझ कर विवेक पूर्वक करे।

आश्रव तत्त्व, संवर तत्त्व का तुलनात्मक विवेचन

मनके बाधक, साधक अवस्थाओं को विस्तार से समझने के लिये कर्म बंध के कारण रूप आश्रव भावों एवं कर्म न बंधने रूप संवर भावों का विवेचन करते हैं।

१—मिथ्यात्व रूप आश्रव भाव

अनादि काल से जीव मोह-ममता से शरीरादि को ही स्वयं समझने की भूल कर रहा है। इस 'मूल' बड़ी भूल के कारण ही मनुष्य की विभाव दशा है। इसे ही अनगृहित अनादि मिथ्यात्व कहते हैं। अतः प्रथम इस भूल को सुधारना परमावश्यक है। मिथ्यामति देव, गुरु, धर्म, शास्त्र को आत्म कल्याण करनेवाला मानना, यह गृहित मिथ्यात्व है। भव्य जन को देव गुरु धर्म रूप से इन्हें न मानना चाहिये।

१—सम्यक्त्वरूप संवरभाव

मैं, शरीरादि से अलग चेतन लक्षण—दर्शन ज्ञान उपयोग स्वभाव वाला आत्मा हूँ। जैसे, दूधमें घी, तिल में तेल अलग है, वैसे ही मैं आत्मा शरीर रूप पीजड़े में अलग हूँ। तथा मेरा सम्यग दर्शन ज्ञान चारित्र स्थिरता एवं पंडितवीर्य-साधक

आत्म शक्ति ही मोक्ष-मार्ग है। ऐसा निश्चितमान, आन्तरिक श्रद्धा होना, भावमें निश्चय सम्यग् दर्शन है। भगवान महावीरादि को आराध्यदेव स्वरूप मानना। उनकी वाणी के मर्म को समक्त मोक्ष साधन पथ का अनुसरण करने वाले पंचमहाव्रतधारी साधुको सद्गुरु मानना। उनकी अमृत तुल्य वाणी के अनुकूल अनुसरण को सत्धर्म मानना, तथा हितोपदेश से ओतप्रोत उनकी स्याद्वाद वाणी द्वादशांगी को सत्शास्त्र मानना, श्रद्धा करने रूप भाव, जीव का, द्रव्य से व्यवहार सम्यग् दर्शन है।

२—अविरतिरूप आश्रव भाव

जीवका संसार, परिवार, शरीरमें तथा पंच इन्द्रियों के तेइस विषयोंसे रुचि होना, कामना वासना में निज सुखमानना यह भाव से अविरति है। भव्य आत्मा को इनमें आसक्त होने से बचना कर्तव्य है। इन वासनाओं में जीव का मन वचन काया के द्वारा आचरण करना, तथा हिंसा करना, बेईमानी, झूठ, चोरी, मैथुन सेवन, परिग्रह संचय में आरंभ समारंभ करनेको द्रव्यसे अविरति कहते हैं।

३—विरतिरूप संवर भाव

जीव का पौद्‌गलिक, शारीरिक सभी क्षणिक सुखों में रुचि न होना, निस्पृह रहना, तथा इस भाव को पुष्ट एवं सफल बनाने के लिये जब मनुष्य भाव सामाइक संयम करता है, तथा क्रमशः छेदोपस्थाप्य संयम, परिहार विशुद्धि संयम, सूक्ष्म संपराय,

संयम, तथा यथा-ख्यात संयम पालेगा तब अपने सत्ता में रहे केवल ज्ञान स्वरूप को व्यक्त-प्रकट कर सकेगा। यह भाव से निश्चय विरति है। उत्तम अहिंसा, सत्य, शौच, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग, तपश्चर्या, क्षमा, नम्रता, सरलता, निर्लोभता, पंच समिति पालना, तीन गुप्ति का अभ्यास, २२ परिषहों को सहना, यह सब साधु जीवन है, यह सब द्रव्य से (मन, वचन, काया) व्यवहार चारित्र है। साधु जीवन की भावना करनी चाहिये। तथा श्रावकों के आंशिक १२ व्रत द्रव्य से, व्यवहार विरति है।

३—प्रमाद रूप आश्रव भाव

मनुष्य को अपने चेतन स्वरूप का भान न रहना, भाव से प्रमतदशा है। इन्द्रिय-विषय, आलस, निद्रा, विकथा जैसे राज, देश चर्चा, स्त्री, भोजन चर्चा करना द्रव्य से प्रमाद दशा है। अतः मनुष्य को अपने आत्म स्वरूप का उपयोग हमेशा रखना कर्तव्य है, जैसे, पनिहारिन घड़ों में, तथा मोटर चालक सामने रास्ते में ध्यान रख कर बात चीत आदि करता है। वैसे ही उसे सब कार्य करते समय अपने आत्म स्वरूप का ख्याल रखना कर्तव्य है।

३—अप्रमत्त दशा रूप संवर भाव

विषय, आलस्य, निद्रा, विकथा को त्याग कर मनुष्य आत्म धर्म साधन में मन वचन काया के द्वारा आचरण करता है, वह द्रव्य से अप्रमत दशा है। तथा मैं ज्ञाता दृष्टा मात्र चे..

अतः निज सत्ता में शक्तिरूप से रहे निर्विकल्पदशा एवं केवल ज्ञान स्वरूप के ध्यान में स्थिरता करना, निमग्न रहना तथा शुक्ल ध्यान ध्याना भाव से अप्रमत्त दशा है।

४—कषाय भाव रूप आश्रव भाव

जिन विषम भावों से जीव पीड़ित हो उसे कषाय कहते हैं। मिथ्या-दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, इन चारों का मुख्य कारण जीव के कषाय युक्त अध्यावसायोंकी तारतम्यता ही है। कषायों के तारतम्य भाव को मुख्य रूप से चार भागों में विभक्त किया गया है। जैसे,

पहला अनंतानुबन्धी कषाय

जीव के तीव्रतम क्रोध मान (द्वेष), माया लोभ (राग), रूप परिणामों को कहते हैं। जैसे पत्थर पर की लकीर का अस्तित्व एक लम्बे अर्सेतक रहता है, वैसे ही इस कषाय का अस्तित्व समझें। इन कषायों के उदय से जीव मिथ्या दृष्टि बना रहता है। अतः इन कषायों के उदय में मनुष्य को शान्त रह कर उस कषाय को उपशम करना अत्यावश्यक है।

दूसरा अप्रत्याख्यानी कषाय

जीव के तीव्र क्रोध मान, माया लोभ, रूप परिणामों को कहते हैं। जैसे, गीली मिट्टी पर की हुई लकीर सुखने पर उसका अस्तित्व कुछ दिनों तक रहता है, वैसे ही इसका अस्तित्व समझें। इनके उदय से जीव आंशिक १२ व्रतों को ग्रहण नहीं कर सकता।

तीसरा प्रत्याख्यानी कषाय

जीव के अल्प क्रोध मान, माया लोभ रूप परिणाम को कहते हैं। जैसे, रेत पर की लकीर का अस्तित्व कुछ समय तक रहता है, वैसे ही इसका अस्तित्व समझें। इसके उदय से जीव साधु जीवने में प्रवेश नहीं कर सकता है।

चौथा संज्वलन कषाय

जीव के अल्पतर क्रोध मान, माया लोभ रूप परिणाम को कहते हैं। जैसे, पानी की लकीर का अस्तित्व क्षण भर में मिट जाता है, वैसे ही इस कषाय का अस्तित्व मिट जाता है। इसके उदय से मनुष्य यथाख्यात चारित्र प्राप्त न कर सकने से केवल ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है।

४—समता भाव रूप जीव का संवर भाव

(१) जगत् के सब जीवोंकी आत्मा को अपनी आत्मा के तुल्य मानना। (२) कल्पित सुख दुःख में सम भाव रखना। (३) सम्यग् दर्शन ज्ञान-चरित्र में स्थिरता रूप भाव—समता भाव है।

५—जीव का योग रूप आश्रव द्वार

जीव के द्रव्य प्राण रूप मन, वचन, काया को योग कहते हैं। मन दो प्रकार का हैं। (१) जीव के मोह, राग, द्वेष रूप परिणाम को भाव मन कहते हैं। मति ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशमरूप यह मन जीव के संसार अवस्था में तारतम्य रूप से सर्वदा बारहवें गुणस्थानक तक रहता है। (२) जीव

को विश्वास तथा विचार करने में उपयोगी मनोवर्गणा को द्रव्य मन कहते हैं। यह संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के ही होता है। वचन तीन प्रकार का है, जैसे, सर्वज्ञ के स्याद्वाद रूप प्रवचन, अल्प ज्ञानी के एकान्त वाद रूप वचन तथा द्वेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, जीवों के शब्द रूप वचन। काया पांच प्रकार की है, जैसे, तैजस्, कार्मण, औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीर है।

जीव का तेजस् शरीर पुद्गल रूप आहार को हजम कर शरीर बनाने में सहायक होता है। जीव की संसारी अवस्था में सर्वदा रहता है।

जीव का कार्मण शरीर—आठ द्रव्य कर्म रूप पुद्गल वर्गणा के समूह को कहते हैं। यह भी जीव की संसारी अवस्था में सर्वदा रहता है। किन्तु मोहनीयादि चार घाति कर्मों के समूल नष्ट होने से केवल ज्ञान होता है।

औदारिक शरीर—मनुष्य और पशु पक्षी आदि तिर्यंच गति के जीवों के औदारिक शरीर होता है। जो दृश्यमान शरीर है, उसे औदारिक शरीर कहते हैं।

वैक्रिय शरीर—देवगति, नरक गति के जीवों के वैक्रिय शरीर होता है।

आहारक शरीर—चौदह पूर्व का ज्ञान वाले मुनियों के आहारक शरीर बनाने की लब्धि होती है।

५ जीव का योग निरोध रूप संवर भाव

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति करने को संवर भाव, तथा चौदहवें गुणस्थानक में शैलेशी करण को, योग निरोध रूप अयोगी दशा कहते हैं।

बन्ध तत्त्व

७ बन्ध तत्त्व—जीव के असंख्य प्रदेशों में कर्म-पुद्गल वर्गणा का जो प्रति समय संयोग होता है, उसे बन्ध कहते हैं। बन्ध चार प्रकार से होते हैं, जैसे, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रस बन्ध, प्रदेश बन्ध।

प्रकृतिबन्ध—जीव की जैसी-जैसी मनोवृत्ति रहती है, उन आए हुए कर्म वर्गणा में वैसे-वैसे स्वभाव का बन्ध होता है, जैसे, ज्ञानावरण कर्म ५, दर्शनावरण कर्म ६, वेदनीय कर्म २, मोहनीय कर्म २८, आयु कर्म ४, नाम कर्म ९३ या १०३, गोत्रकर्म २, तथा अंतराय कर्म ५ प्रकार से बन्ध को प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

स्थितिबन्ध—जीव के कषाय भाव की तारतम्यता से उन कर्म प्रकृतियों के स्थिति बन्ध में कमी बेसी होती है, जैसे, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय तथा अंतराय कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोटाकोटी सागर की, मोहनीय कर्म की ७० कोटा कोटी सागर की, नामकर्म, गोत्रकर्म की २० कोटाकोटी सागर की, तथा आयुकर्म की ३३ सागर से अधिक की उत्कृष्ट स्थिति एक समय में बन्ध सकती है।

रस बन्ध—जीव के कषाय युक्त भाव में छः लेश्या की जैसे, कृष्ण, नील, कापोत अशुभ लेश्या, तथा तेज, पद्म, शुक्ल शुभ लेश्या की तारतम्यता से उन कर्म प्रकृतियों में शक्ति-रसबन्ध होता है।

प्रदेशबन्ध—जीव के कायादि योग की क्रिया से उसके आठ रुचक प्रदेशों को छोड़कर बाकी सब प्रदेशों में अनंत कर्मों का दूध में पानी की तरह जो मेल होता है, उसे प्रदेश बन्ध कहते हैं।

निर्जरा तत्त्व,

८ निर्जरा—जीव के कर्मों से आंशिक छूटने को निर्जरा कहते हैं। अकाम, तथा सकाम निर्जरा दो प्रकार की हैं। प्रति समय जीव जिन कर्मों के उदय से सुख दुःख भोगता है, वे कर्म फल देकर अलग होते जाते हैं, उस अकाम निर्जरा को निर्जरा तत्त्व न समझें। मनुष्य सांसारिक इच्छाओं को रोक कर जब आत्म शुद्धि के लिये छः बाह्य तप जैसे (१) अनशन—चौविहार उपवास, (२) उनौदरी-आम्बिलादि, (३) वृत्ति संक्षेप, (४) रसत्याग, (५) कायक्लेश, (६) संलीनता। तथा छः अभ्यन्तर तप जैसे—१ प्रायश्चित, २ विनय, ३ वैयावच्च, ४ स्वाध्याय, ५ ध्यान, ६ कायोत्सर्ग करता है, तब तथा आत्म ध्यान से, शुक्ल ध्यान से—सकाम निर्जरा [illegible] है कि आत्म शुद्धि के लिये तप, ध्यान [illegible]

मोक्ष तत्व

आठों कर्मों को क्षय कर जो आत्मा सिद्ध, बुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा, परमानन्द, अजरामर, निरंजन, निराकार, निर्विकार स्वरूप बनकर लोक के अंत में ऊपर सर्वदा स्थित रहते हैं। उस अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

सारांश—इन नौ तत्त्व एवं ६ द्रव्य के स्वरूप को यथार्थतया जानना सम्यग् ज्ञान, उन पर पूर्ण श्रद्धा को सम्यग् दर्शन कहते हैं। अजीव—पुद्गल, पाप, आस्रव, बन्ध को हेय, अन्तमें पुण्य को भी हेय, छोड़ने योग्य समझना तथा आत्मा को उनके प्रभाव से बचाने के लिये जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष को उपादेय समझ कर, आश्रव आदि के द्वारा आते हुए कर्मों को संवर के द्वारा रोकना, तथा बन्धे हुए कर्मों की सकाम निर्जरा के द्वारा क्षय करते रहना ही सम्यग् चारित्र, तथा ऐसे प्रयत्न में स्थिरता ही सम्यग् तप है। तथा इस तरह के पुरुषार्थ (पंडित वीर्य) के द्वारा सर्व कर्मों के मूल से नाश होने पर मनुष्य सर्व दुःखों से, जन्म, जरा, मृत्यु से, मुक्त हो जाता है। तथा अपने सिद्धात्मा के विशुद्ध परमानन्द स्वरूप को व्यक्त-प्रगट कर लेता है, यह मोक्ष-तत्त्व है। इस प्रकार जीव-आत्मा बीच के सब तत्त्वों के बन्धन से मुक्त होकर सर्वदा के लिये मोक्षमय (स्वतन्त्र) हो जाता है।

तुंहिज तुज्मने सत्व प्रबोधे, निश्चय ने व्यवहारे। चेतन ॥१॥
ज्ञेय विचारी हेय ने छंडी, उपादेय स्वीकारे। चेतन ॥२॥
निज पर द्रव्य निश्चय करवा, ज्ञान चरण उर धारे। चेतन ॥३॥
निज निज रूप पक्के प्रगटे, सहजानन्द घन भारे। चेतन ॥४॥

रस बन्ध—जीव के कषाय युक्त भाव में छ लेश्या की जैसे कृष्ण, नील, कापोत अशुभ लेश्या, तथा तेज, पद्म, शुक्ल शुभ लेश्या की तारतम्यता से उन कर्म प्रकृतियों में शक्ति-रसबन्ध होता है।

प्रदेशबन्ध—जीव के कायादि योग की क्रिया से उसके आठ रुचक प्रदेशों को छोड़कर बाकी सब प्रदेशों में अनंत कर्मों का दूध में पानी की तरह जो मेल होता है, उसे प्रदेश बन्ध कहते हैं।

निर्जरा तत्त्व,

८ निर्जरा—जीव के कर्मों से आंशिक छुटने को निर्जरा कहते हैं। अकाम, तथा सकाम निर्जरा दो प्रकार की हैं। प्रति समय जीव जिन कर्मों के उदय से सुख दुःख भोगता है, वे कर्म फल देकर अलग होते जाते हैं, उस अकाम निर्जरा को निर्जरा तत्त्व न समझें। मनुष्य सांसारिक इच्छाओं को रोक कर जब आत्म शुद्धि के लिये छ बाह्य तप जैसे (१) अनशन—चौविहार उपवास, (२) उनौदरी-आम्बिलादि, (३) वृत्ति संक्षेप, (४) रसत्याग, (५) कायक्लेश, (६) संलीनता। तथा छ अभ्यन्तर तप जैसे—१ प्रायश्चित, २ विनय, ३ वैयावच्च, ४ स्वाध्याय, ५ ध्यान, ६ कायोत्सर्ग करता है, तब तथा आत्म ध्यान से, शुक्ल ध्यान से—सकाम निर्जरा होती है। सकामका अर्थ है कि आत्म शुद्धि के लिये तप, ध्यानरूप साधना करना। १२ भावनाएँ, धर्म ध्यानादि का आगे वर्णन करेंगे।

१ मोहनीय कर्म

दो प्रकार के हैं—दर्शन मोहनीय कर्म तथा चारित्र मोहनीय कर्म।

(१) दर्शन मोहनीकर्म—जीव को आत्म-बोध नहीं होने देता, उसके सात भेद हैं—अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय। इन सात कर्मों के उदय काल में जीव मिथ्या दृष्टि रहनेसे वह प्रथम मिथ्यात्व गुण स्थानक में हैं। इन कर्मों के उपशम, क्षयोपशम, एवं क्षय करने से जीव सम्यग् दृष्टि बनता है, तब उसे चौथा गुण-स्थानक प्राप्त होता है।

दर्शन मोहनीय कर्म-बंधमें मुख्य कारण यह है कि—अनादि तीव्रतर कषायोदय से जीव का मिथ्या-भाव, परमें मोह-अपनापन है (जिससे उसके प्रति समय आयु को छोड़ कर बाकी सातों कर्म बंधते हैं) अथवा मोह-भ्रमवश वह अर्हन्त भगवान् में, उनके श्रुत—शास्त्रों में, चतुर्विध संघमें, मोक्ष साधन रूपधर्म में अविश्वास करता है, उन्हें मिथ्या, या व्यर्थ समझता है, अथवा इनकी निन्दा करता है, ऐसे अध्यवसायों से जीव के विशेषरूप से दर्शन मोह-कर्म बंध होता है।

(२) चारित्र मोहनीय कर्म—जीव को अपने ज्ञानादि गुणोंमें रमन नहीं करने देता। उसके २१ भेद हैं,—अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ। प्रत्याख्यानी-क्रोध, मान, माया,

ॐ नमः

जीव के आठ कर्मोंका विवरण एवं उनके बन्धका विवेचन

श्री उमास्वाति कृत तत्त्वार्थ सूत्र के आधार से।

आठ कर्म—आठ कर्म में से चार कर्म जो जीवके ज्ञानादि मूल गुणों को रोकते या आवरण करते हैं, उन्हें घातिकर्म कहते हैं। वे हैं—ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरणकर्म, मोहनीय कर्म, अंतराय कर्म। और चार कर्म जो जीवके सिद्धावस्थामें तो बाधक है, किन्तु उसके केवल ज्ञानादि में बाधक न होनेसे अघातिकर्म कहलाते हैं। वे हैं—वेदनीयकर्म, आयुकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म।

जीवकी मनोवृत्ति केअनुसार उसके विभावरूप इन आठ कर्मों के तारतम्य रूपसे—बंध होते हैं, उसे प्रकृति बंध कहते हैं। जीवके तरतम कषाय भावानुसार प्रकृति बंधमें अमुक समय तक की स्थिति को स्थिति बंध कहते हैं।

जीवके तरतम कषाय में शुभाशुभ लेश्या की तारतम्यता से प्रकृति बंध में शुभाशुभ फल देने की शक्ति को रस बंध कहते है। जीवके मन, वचन, काया की क्रियासे आकर्षित होकर कर्म वर्गणाएँ उसके आत्म प्रदेशों में बंध जाती हैं, उसे प्रदेश बंध कहते हैं। इस विषय की विशेष जानकारी के लिये छ कर्मग्रन्थादि का अध्ययन करना उचित है।

जीव को अपनी आत्मा का सम्यग् बोध होने में बाधक कारणोंमें दर्शन मोहनीयकर्म की मुख्यता है अतः पहले मोहनीय कर्म का वर्णन करेंगे।

१ मोहनीय कर्म

दो प्रकार के हैं—दर्शन मोहनीय कर्म तथा चारित्र मोहनीय कर्म।

(१) दर्शन मोहनीकर्म—जीव को आत्म-बोध नहीं होने देता, उसके सात भेद हैं—अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय। इन सात कर्मों के उदय काल में जीव मिथ्या दृष्टि रहनेसे यह प्रथम मिथ्यात्व गुण स्थानक में है। इन कर्मों के उपशम, क्षयो-पशम, एवं क्षय करने से जीव सम्यग् दृष्टि बनता है, तब उसे चौथा गुण-स्थानक प्राप्त होता है।

दर्शन मोहनीय कर्म-बंधमें मुख्य कारण यह है कि—अनादि तीव्रतर कषायोदय से जीव का मिथ्या-भाव, परमें मोह-अपनापन है (जिससे उसके प्रति समय आयु को छोड़ कर बाकी सातों कर्म बंधते हैं) अथवा मोह-भ्रमवश यह अर्हन्त भगवान् में, उनके श्रुत—शास्त्रों में, चतुर्विध संघमे, मोक्ष साधन रूपधर्म में अविश्वास करता है, उन्हें मिथ्या, या व्यर्थ समझता है, अथवा इनकी निन्दा करता है, ऐसे अध्यवसायों से जीव के विशेषरूप से दर्शन मोह-कर्म बंध होता है।

(२) चारित्र मोहनीय कर्म—जीव को अपने ज्ञानादि गुणोंमें रमण नहीं करने देता। उसके २१ भेद हैं,—अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ,। प्रत्याख्यानी-क्रोध, मान, माया,

लोभ। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, ये बारह कषाय तथा हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, ये नौ कषाय, दोनों मिलाकर २१ भेद चारित्र मोहनीय कर्म के हुए।

इस कर्म बन्ध में मुख्य कारण यह है, कि—रूपी पदार्थों में ममत्व के कारण जीव को उनसे संयोग की लालसा रहती है। संयोग होने पर उनके क्षणिक सुख में आन्तरिक रुचि-आसक्ति होने से उसके चारित्र मोह का विशेष रूप से बंध होता है। तथा सातों कर्मों का बंध प्रति समय होता है। अथवा मिथ्या दर्शन के प्रभाव से वह अरिहन्त-भगवान् की, उनके धर्म मार्ग की, या धर्मके साधनों की उपेक्षा या उनसे घृणा करता है, अथवा भावावेश में उन्हें नष्ट करता या हानि पहुंचाता है। व्रती पुरुषों को व्रत पालने में बाधा देता है। मांसादि खाने का प्रचार करता है। ऐसे महा अनर्थ कारी कार्य करने से जीव के क्षण भर में भयंकर कर्म बन्धते हैं, और विशेष रूपसे चारित्र मोहनीय कर्म बन्ध होता है। जो भव-भव में भोगते-भोगते मुश्किल से छुटता है। इस पर गोशालक के ऐसे जीवन के फल स्वरूप उसके संसार भ्रमण का वृत्तांत भगवती सूत्र से जानना चाहिये। आत्महित के लिये मनुष्य को सवधानी रख इनसे बचना चाहिये।

२ ज्ञानावरण कर्म

जीव को वस्तु स्थिति का ज्ञान होने में बाधक है, वे पांच

प्रकार के हैं,—मतिज्ञानावरण, श्रुत-ज्ञानावरण, अवधि-ज्ञानावरण, मनः पर्यय-ज्ञानावरण, केवल ज्ञानावरण।

३ दर्शनावरण कर्म

जीव को वस्तुस्थिति का सामान्यबोध। (दर्शन) में बाधक है। वे नौ प्रकार हैं, चक्षु-दर्शनावरण, अचक्षु-दर्शनावरण, अवधि-दर्शनावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला स्त्यानगृद्धि वेदनीय।

ज्ञानावरण कर्म के बंध में मुख्य कारण जीव की अज्ञान दशा है। अतः अज्ञानवश वह ज्ञान, ज्ञानवान्, ज्ञान के साधनों की उपेक्षा करता है, उन्हें छिपाता है, उनसे ईर्ष्या-द्वेष करता है, उनसे अन्य किसी को वंचित या अन्तराय करता है। ज्ञानादि के प्रसार का विरोध कर रोक देता है, तथा प्रशस्त ज्ञान में भी दूषण लगाता है, उप-घात करता है। ऐसे कार्यों से ज्ञानावरण कर्म का विशेष रूप से निकाचित बंध होता है। दर्शनावरण कर्म के बंध में भी वे ही सब कारण हैं, किन्तु इस में दर्शन शास्त्र की, जिनेन्द्र भगवान की, दर्शन के साधन मन्दिर, उपाश्रयादि की उपेक्षा, विरोधादि करने से दर्शनावरण कर्म का निकाचित बन्ध होता है। ऐसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म बंध से जीव अनेक भवों तक अज्ञानी बना रहता है।

४ अंतराय कर्म

जीवको दान, लाभादि में बाधा देता है, वे पांच प्रकार हैं। दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय वीर्यान्तराय। दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, पांचों का दो

भिन्न दृष्टि कोण से विचार करने से इनका यथार्थ ज्ञान होगा।

जैसे, आत्मिक दृष्टि से दान का अर्थ-साधुके लिये यतनासे व्यवहार करना तथा सर्वज्ञ के वचनानुसार उपदेश देना है। गृहस्थ के लिये जयणासे व्यवहार करना, तथा अभयदान, सुपात्र दान देना है।

व्यवहार दृष्टि से दान—दीन दुखी को अन्न, वस्त्रादि, रोगी को दवादि देना है।

आत्मिक दृष्टि से लाभ का अर्थ—सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य एवं प्रनादि धर्मध्यान के लाभ-प्राप्ति होने को समझें।

व्यवहार-दृष्टि से लाभ—रूप, बल, यौवन आदि तथा मकान, धन धान्य, सन्मानादिके लाभ—प्राप्ति होनेको कहते हैं।

इसी प्रकार भोग, उपभोग, वीर्य में दोनों दृष्टि से विचार करना चाहिये। अतः जो मनुष्य अन्य किसी जीव को इन पांचों लाभादिमें अन्तराय - बाधा देता है, उसे भी उन लाभों में बाधा आवेगी। इसे अन्तराय कर्म कहते हैं। जैसे, भगवान् रिषभदेव ने पूर्वजन्म में किसी बैल के मुंह में छींका बांध दिया था, जिससे बैल १२ घंटो तक चारा पानी न करसका, फलस्वरूप भगवान को १२ महीनों तक आहार पानी का अंतराय रहा। इसी प्रकार किसी के धर्म, ध्यानादि में बाधक बननेसे अपने को भी धर्म ध्यानादिमें बाधा आवेगी ही। अपना हित चाहने वाले को किसी के लाभादि में बाधक नहीं बनना चाहिये।

५, वेदनीयकर्म—दो प्रकार हैं,—असातावेदनी, साता वेदनीय

(१) असातावेदनीय कर्म—पापके कड़वे फलों को असाता वेदनीय कहते हैं। इनके बंध में मूल कारण ये हैं कि दुःख, शोक, संताप, आक्रंदन (आर्त ध्यान) करनेसे, अथवा वध, हिंसादि करने से असाता का बंध होता है। सुख चाहने वाले मनुष्य को इनसे अवश्य बचना चाहिये।

(२) सातावेदनीय कर्म—पुण्य के मीठे फलोंको सातावेदनीय कहते हैं, इनके बंध में ये कारण हैं। सभी प्राणियोंपर दया रखने से। साधु-साध्वी, श्रावक, श्राविका व्रतियों पर विशेष दया रखने तथा इन्हे दान देनेसे। तथा कीर्ति की इच्छा विना दान देनेसे। सराग संयम (साधु के पंच महाव्रत), सराग—सयंमासंयम (श्रावकके १२ व्रतों) से। आत्म भान विना व्रत न लेनेपर भी दुःख कष्टों को शान्ति से सहने से। मिथ्या दृष्टिके बालतपसे तथा लोभादि को कमकर संतोष रखने से, तथा शक्ति रहते हुए भी विपरीत परिस्थितिमें भी क्रोधादि न कर क्षमादि करनेसे जीव के साता वेदनीय कर्म पुण्य का बंध होता है। नीति या लौकिक धर्म पालने से मनुष्यके साधारण पुण्य बंधता है।

६—आयुकर्म—जीवके भावानुसार उसके जब तीव्रतम परिणाम होते हैं, तब गति, उसमें स्थिति-आयु का बंध होता है। आयुकर्म का बंध जीवन में एक बार ही होता है। गतिचार हैं,—देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति, नरकगति।

भिन्न दृष्टि बोध से विचार करने से इनका यथार्थ ज्ञान होगा।

जैसे, आत्मिक दृष्टि से दान का अर्थ-साधुके लिये अपनाने व्यवहार करना तथा सदश के वचनानुसार उपदेश देना है। गृहस्थ के लिये अपनाने व्यवहार करना, तथा अभयदान, सुपात्र दान देना है।

व्यवहार दृष्टि से दान—दीन दुखी को अन्न, वस्त्रादि रोगी को दवादि देना है।

आत्मिक दृष्टि से लाभ का अर्थ—सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य एवं ज्ञानादि धर्मध्यान के लाभ-प्राप्ति होने को समझें।

व्यवहार-दृष्टि से लाभ—रूप, बल, यौवन आदि तथा मकान, धन धान्य, सन्मानादिके लाभ—प्राप्ति होनेको कहते हैं।

इसी प्रकार भोग, उपभोग, वीर्य में दोनों दृष्टि से विचार करना चाहिये। अतः जो मनुष्य अन्य किसी जीव को इन पांचों लाभादिमें अन्तराय बाधा देता है, उसे भी उन लाभो में बाधा आवेगी। इसे अन्तराय कर्म कहते हैं। जैसे, भगवान् ऋषभदेव ने पूर्वजन्म में किसी बैल के मुंह में छींका बांध दिया था, जिससे बैल १२ घंटा तक चारा पानी न करसका, फलस्वरूप भगवान को १२ महीनों तक आहार पानी का अंतराय रहा। इसी प्रकार किसी के धर्म, ध्यानादि में बाधक बननेसे अपने को भी धर्म ध्यानादिमें बाधा आवेगी ही। अपना हित चाहने वाले को किसी के लाभादि में बाधक नहीं बनना चाहिये।

१२ व्रतपालन करने से, तथा पंचमहाव्रत रूप साधु जीवन से भावानुसार देव आयु का बंध होता है।

(७) नामकर्म—जीव के नामादि को कहते हैं, वे दो प्रकार हैं—अशुभ-नाम तथा शुभनाम कर्म। मनुष्य के शरीर, मन, वचन के द्वारा होनेवाली कुटिलता, विषमता से अशुभ नाम कर्म का बंध होता है, इसके विपरीत योग की सरलता, समता से शुभ नाम कर्म का बंध होता है। नामकर्म के ४२ भेदों तथा उत्तर भेदों में जो शुभ हो उसे—शुभनामकर्म बाकी के—अशुभ नाम कर्म समझें। नामकर्म के मूलभेद ४२ हैं, जैसे, गतिनाम, जाति नाम, शरीर नाम, अंगोपांगनाम, निर्माणनाम, बंधननाम, संघात नाम, संस्थाननाम, संहनननाम, स्पर्शनाम, रसनाम, गंधनाम, वर्णनाम, आनुपूर्विनाम, अगुरुलघुनाम, उपघातनाम, परघातनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, उच्छ्वासनाम, विहायोगतिनाम, प्रत्येक शरीरनाम, साधारण शरीरनाम, त्रसनाम, स्थावरनाम, सुभगनाम, दुर्भगनाम, सुस्वरनाम, दुःस्वरनाम, शुभनाम, अशुभनाम, सूक्ष्मनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, अपर्याप्तनाम, स्थिरनाम, अस्थिरनाम, आदेयनाम, अनादेयनाम, यशोनाम, अयशोनाम, ये कुल ४१ हुए, तथा तीर्थङ्करनाम कर्म मिलाकर ४२ भेद हुए। नामकर्म के उत्तर भेद अनेक होते हैं। जैसे गति के भेद से नरकादि चार गति के नाम, जाति के भेद से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पंचेन्द्रि जाति नाम कर्म हैं।

(१) नरकगति—दुःखों की तारतम्यता से सात हैं। अति लोभवश जीवके धन, धान्यादि ६ प्रकार के परिग्रहों में अत्यन्त ममत्व होने के कारण उन्हें संचय करता है, या करना चाहता है। उसे बहु परिग्रही कहते हैं, तथा उसके संचय के लिये, महा आरम्भ समारंभ करता है, जिससे पृथ्वी, जलादि तथा त्रस-जीवों की बहुत हिंसा होती है, उसे महारंभ कहते हैं। इस प्रकार महाआरम्भ, महापरिग्रह के कारण मनुष्य नरक गति के अनुकूल आयुकर्म का बंधकर मृत्यु के बाद नरक में जन्म लेता है।

(२) तिर्यंचगति—मच्छादि जलचर, पशु आदि स्थलचर, पक्षी आदि खेचर तथा स्थूल या सूक्ष्म वनस्पतिकाय, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, हैं। अतितृष्णावश जीव की विषयों में लोलुपता के कारण वह उसे प्राप्त करने के लिये अत्यन्त माया-प्रपंच करता है, जिससे मनुष्य अपने भावानुसार तिर्यञ्च गति के अनुकूल आयु कर्म बंध होने से वह मृत्यु के बाद उनमें जन्म लेता है।

(३) मनुष्यगति—अढ़ाई द्वीप के १०१ क्षेत्रोंमें मनुष्य जन्म लेते हैं, मनुष्य आयु में बंध का कारण—अल्प आरंभ अल्प परिग्रह याने प्रयोजन के अनुसार आरंभ करना परिग्रह रखना, तथा दया, सरलता कोमलतादि गुण से मनुष्य आयु का बंध होता है।

(४) देव आयु—चार निकाय के देव जैसे वानव्यंतर देव, भुवन पतिदेव, ज्योतिषी-देव, वैमानिकदेव।

मिथ्यादृष्टि मनुष्य के अज्ञान तप या संयम से। गृहस्थ के

मनुष्य मार्गणा यन्त्रकम्

य ओघ से तथा पहला गुणस्थानक मिथ्यात्व से तेरहवें गुणस्थानक त
कितने-कितने कर्म बांधता है, तथा चौदहवें अयोगी गुणस्थानक में
कर्म नहीं बांधता उसकी तालिका।

थानकों नाम	बंधप्रकृति	अबंधप्रकृति	विच्छेदप्रकृति	ज्ञानावरणीय	दर्शनावरणीय	वेदनीय	मोहनीय	आयुकर्म	नामकर्म	गोत्रकर्म	अंतरायकर्म	मूलप्रकृति
	१२०	०	३	५	९	२	२६	४	६७	२	५	७ या ८
ात्वे	११७	३	१६	५	९	२	२६	४	६४	२	५	७ या ८
ादने	१०१	१९	३२	५	९	२	२४	३	५१	२	५	७ या ८
	६९	५१	०	५	६	२	१९	०	३१	१	५	७
ते	७१	४९	४	५	६	२	१९	१	३२	१	५	७ या ८
रते	६७	५३	४	५	६	२	१५	१	३२	१	५	७ या ८
संयते	६३	५७	६ ०	५	६	२	११	१	३२	१	५	७ या ८
ासंयते	५९ ५८	६१ ६२	१	५	६	१	९	१	३१	१	५	७ या ८
	२६ ५६ ५८	९४ ६४ ६२	२ ३०	५	४ ६	१	९	०	३१	१	५	७
ी भागे	२० २१ २२	१०० ९९ ९८	१ १ १	५	४	१	४ ५	०	[illegible]	१	५	७
	१९ १९	१०२ १०१	[illegible]	[illegible]	४	१	१ २	०	१	१	५	७
	[illegible]	१०३			४	१	०	०	१	१	५	६
	१	११९			०	१	०	०	०	०	०	१
	१	११९			०	१	०	०	०	०	०	१
	१	११९			०	१	०	०	०	०	०	१

८—गोत्रकर्म—दो भेद हैं—नीचगोत्र और उच्चगोत्र। गोत्रकर्म दूसरों की निन्दा करने से, दूसरों के गुणों को ढकने से तथा अपनी प्रशंसा करनेसे या अपने में गुण न होने पर भी दम्भकरने से मनुष्यके नीच गोत्रकर्म बंधता है। उच्चगोत्रकर्म—दूसरों के गुणों की प्रशंसा करना तथा अपने दोषों की निन्दा करने या खराब समझने से मनुष्य के उच्चगोत्र कर्म का बंध होता है।

श्रीसहजानन्द कृत—

इच्छा रोधन तप—पद

जेजे ईच्छेलुं पूर्वे, तेते मले अत्यारे।
जेजे ईच्छयुं न पूर्वे तेतो मले न क्यारे॥१॥
जे मोह भावे ईच्छयुं, निजने मुंभवा जेवुं।
तन संग बंधनादि, फलीने मल्युंज तेवुं॥२॥
तेथी मुभायछे तुं, पण एछे दोष केनो।
छे निमित्त मात्र तने, देखे तुं दोष तेनो?॥३॥
करे हर्ष शोक शानो? तज मोह रे अभागी,
निज दोष थी बंधायो, छुटे ए दोष त्यागी॥४॥
सम भाव थी सहीले, राख्या रहे न कर्मो,
आवे तने छोड़वा, था केम तुं निरामों॥५॥
ऐने जो तजेजो, सहजात्म स्वरूप द्रष्टा,
स्थिर ध्यानमां ठरे तो, छो सहजानन्द स्रष्टा॥६॥
ॐ शान्ति

मनुष्य मार्गणा यन्त्रकम्

य ओघ से तथा पहला गुणस्थानक मिथ्यात्व से तेरहवें गुणस्थानक त
कितने-कितने कर्म बांधता है, तथा चौदहवें अयोगी गुणस्थानक में
कर्म नहीं बांधता उसकी तालिका।

बंधप्रकृति	अबंधप्रकृति	विच्छेदप्रकृति	ज्ञानावरणीय	दर्शनावरणीय	वेदनीय	मोहनीय	आयुकर्म	नामकर्म	गोत्रकर्म	अंतरायकर्म	मूलप्रकृति
१२०	०	३	५	९	२	२६	४	६७	२	५	७ या ८
११७	३	१६	५	९	२	२६	४	६४	२	५	७ या ८
१०१	१९	३२	५	९	२	२४	३	५१	२	५	७ या ८
६९	५१	०	५	६	२	१९	०	३१	१	५	७
७१	४९	४	५	६	२	१९	१	३२	१	५	७ या ८
६७	५३	४	५	६	२	१५	१	३२	१	५	७ या ८
६३	५७	६/७	५	६	२	११	१	३२	१	५	७ या ८
५९/५८	६१/६२	१	५	६	१	९	१	३१	१	५	७ या ८
२६ ५६ ५८	९४ ६४ ६२	२/३०	५	४/६	१	९	०	३१	१	५	७
२० २१ २२	१०० ९९ ९८	१ १ १	५	४	१	४/५	०	१	१	५	७
१८/१९	१०२/१०१	१/१	५	४	१	१/२	०	१	१	५	७
१७	१०३	१६	५	४	१	०	०	१	१	५	६
१	११९	०	०	०	१	०	०	०	०	०	१
१	११९	०	०	०	१	०	०	०	०	०	१
१	११९	१	०	०	१	०	०	०	०		

ॐ नमः

अशुभ आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान का विवेचन

श्री यशोविजय कृत अध्यात्म सार के आधार से।

१ आर्त्तध्यान—शरीरादि में मोह-ममत्व के प्रभाव से होनेवाली विचार-मग्नता को कहते हैं। ये चार हैं—अनिष्ट-संयोग आर्त्तध्यान, रोगार्त्त ध्यान, इष्ट वियोग आर्त्तध्यान, निदानार्त्तध्यान।

(१) अनिष्ट संयोग—मन के प्रतिकूल शब्दादिक विषय जो प्राप्त हुए हैं उनका कैसे वियोग हो, तथा अनिष्ट कर शत्रु आदि का संयोग न हो जाय, इस प्रकार विचार-चिन्तन को पहला आर्त्तध्यान कहते हैं।

(२) रोगार्त्त—अपने या परिवार के रोग की पीड़ा से व्याकुल रहना तथा तत् सम्बन्धी चिन्ता करने को दूसरा आर्त्त-ध्यान कहते हैं।

(३) इष्ट वियोग—लोभवश मन के अनुकूल शब्दादिक विषय वासना की कैसे पूर्ति हो, धनादि की इच्छायें कैसे पूर्ण हों तथा प्राप्त धनादि परिग्रह के वियोग होने से दुःख-चिन्ता रूप विचार धारा को तीसरा आर्त्तध्यान कहते हैं।

(४) निदानार्त्त—धर्म के फल स्वरूप इस लोक तथा परलोक के क्षणिक सुखों की तथा इन्द्रादिक पद प्राप्त करने रूप विचार को चौथा आर्त्तध्यान कहते हैं।

मनुष्य को ऐसे-ऐसे अध्यवसाय रूप आर्त्तध्यान में कापोत नील, कृष्ण लेश्याओं की तारतम्यता से तीव्र से तीव्रतर, तीव्रतम अशुभ परिणाम रहने के कारण मनुष्य के यदि इस ध्यानावस्था में आयु कर्म का बन्ध हो जाय तो वह मरकर तिर्यंच गति जैसे पशु-पक्षी से सूक्ष्म निगोद तक में जन्म लेता है। अतः आर्त्तध्यान रूप भीतरी शत्रु से सावधान रहकर अपने को बचावें।

२ रौद्रध्यान—अपने शरीरादि में ममत्व के कारण स्वार्थ वश अनिष्ट वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति से द्वेष-क्रोध होता है। उसके प्रभाव से होनेवाली विचार धारा को रौद्रध्यान कहते हैं। ये चार हैं—हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान, मृषानुबंधी रौद्रध्यान, स्तेयानुबंधी रौद्रध्यान, विषय संरक्षण रौद्रध्यान।

(१) हिंसानुबंधी—क्रोधवश जीव की हिंसा करने या उसे अत्यन्त कष्ट देने रूप अध्यवसाय—विचार मग्नता को पहला रौद्रध्यान कहते हैं।

(२) मृषानुबंधी मायावश कपट से किसी पर मिथ्या दोषारोपण करने तथा झूठ बोलकर धोखा देने या ठगनेरूप चिन्ता—विचार मग्नता को दूसरा रौद्रध्यान कहते हैं।

(३) स्तेयानुबंधी—लोभवश चोरी, डाका आदि के द्वारा दूसरे के धन-माल को हरने रूप विचार-धारा को तीसरा रौद्र-ध्यान कहते हैं।

(४) विषय संरक्षण—अपने परिग्रह धनादि को हरण करने-

वाले के प्रति-हिंसारूप चिन्ता तथा धनादि के संचय के लिये हिंसा युक्त व्यापार के चिंतन रूप विचार-धारा को चौथा रौद्र-ध्यान कहते हैं।

मनुष्य के ऐसे-ऐसे अध्यवसायों में तीनों अशुभ लेश्या की तारतम्यता से उसके आयु कर्म का बन्ध हो जाय तो मरने पर वह पहले से सातवें नरक तक जा सकता है। अतः रौद्रध्यान रूप भीतरी शत्रु से सावधान रहकर अपने को दुर्गति में जाने से बचावें। आप वचन काया से धार्मिक क्रिया करते हों, किन्तु आप का मन कषाय भावों की तीव्रता से आर्त्तध्यान या रौद्र-ध्यान करता हो तो आप उसके बुरे परिणाम से अपने को नहीं बचा सकते। जैसे, राजा प्रसन्नचन्द्र को संसार से विराग हो जाने के कारण उन्होंने दीक्षा ली—साधु बन गये। भगवान महावीर के समवसरण के पास आत्म साधना के लिये वे कायोत्सर्गध्यान में खड़े हो गये। उधर से जाते हुए किसी ने कहा कि राजा साधु हो गये, उधर शत्रु ने युवराज को बालक जान राज्य पर चढ़ाई कर दी। राजऋषि के कानों में भी ये शब्द पहुँचे, जिससे वे अपने साधनावस्था को भूलकर मन ही मन शत्रु से लड़ाई करने लगे, इस प्रकार गहरे रौद्रध्यान में तल्लीन हो गये। इधर राजा श्रेणिक ने भगवान् से प्रसन्नचन्द्रजी के तपश्चर्या की प्रशंसा की, तो भगवान् ने कहा कि यदि अभी उसकी मृत्यु हो तो सातवें नरक में जावे। श्रेणिक को यह सुनकर आश्चर्य होने से कारण पूछा, तब भगवान् ने उसके रौद्रध्यान

की बात कही। इधर राजऋषि ने ध्यान की तीव्रता में ही अपने मस्तक में हाथ रखा तो मुकुट नहीं पाया, उनके विचारों ने पलटा खाया, हार्दिक पश्चाताप कर इकट्ठे हुए कर्म दलियों को बिखेर दिया। यदि रौद्रध्यान में कुछ और स्थिति रहती तथा कर्मों में स्थिति, रसादिका बंध पड़ गया होता तो क्या वे नरक जाने से बच सकते? अतः आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान के बुरे फल को आप स्वयं विचारें तथा उनसे बचने का प्रयत्न करना आपका कर्तव्य है।

मनोजय मंत्रपद–श्री सहजानन्द कृत

मुंम्मा मुंममा मुंभमारे, परभाव चेतनजी मुंझमारे।
आप-स्वभाव घर सौख्य भर्यु छे, ज्ञान आनन्द अनुपमारे।
देह, स्वजन, धन, राग सम्बंधे, शाने पड़े भव कूपमारे ॥पर०॥
इष्ट संयोग ए तो पुण्य तणुं फल, ते तो अनित्य स्वरूप मारे।
पराते दु:समय तेम छतां तूं, शाने रचि जड़ धूपमारे ॥पर०॥
अनिष्ट संग फल पाप तणुंए, हांसे कर्यूं छे ते जमारे।
जेवुं वावे ते लगे तेवुं फल, धरे पछी शुं अणगमारे ॥पर०॥
इष्ट अनिष्टमां धर तुं समता उर, विकल्प जाल सवी शमारे।
मंत्र मनोजय अजपा अंगीकर, जो सत् सौख्यतणी तमारे ॥पर०॥
मन स्थिरताए प्रगटे सहजानन्द, बाजी हवे तूं चूकमारे।
अचिंत्य नर भव पामी हवे, निज आत्म सेवाने मुकमारे ॥पर०॥

ॐ शान्ति

ॐ नमः

शुभ १२ भावनाएं तथा ४ धर्म-ध्यान का विवेचन

श्री यशोविजयकृत अध्यात्मसार के आधार से।

मनुष्य को धर्म-ध्यान करने योग्य पात्र बनानेवाली चार भावनाएं हैं, जैसे, वैराग्य, दर्शन, ज्ञान, चारित्र भावना तथा अनित्यादि १२ भावनाएं।

१ वैराग्य भावना—१ अनित्य भावना, २ अन्यत्व भावना, ३ अशुचि भावना,

२ दर्शन भावना—४ अशरण भावना, ५ बोधि दुर्लभ भावना, ६ एकत्व भावना,

३ ज्ञान भावना—७ लोक संस्थान भावना, ८ आश्रव भावना, ९ संसार भावना,

४ चारित्र भावना—१० संवर भावना, ११ निर्जरा भावना, १२ धर्मदुर्लभ भावना,

(१) अनित्य भावना—शरीर, रूप, यौवन, बल धनादि प्रत्येक रूपी पदार्थ क्षणिक हैं, विनाशी हैं। अतः हे आत्मा! इनमें मत राच।

(२) अन्यत्व भावना—शरीर, स्त्री, पुत्र, परिवार, घर, देशादि सभी अलग दीखते हैं, मृत्यु के बाद कोई साथ नहीं आता! अतः हे मन! इनमें ममत्व न कर।

(३) अशुचि भावना—शरीर मल, मूत्र, खून मांस, हड्डियों का समूह है। यदि चमड़ी न रहे तो दुर्गंधादि से घृणा होने लगती है। अतः इसका मिथ्या अभिमान न कर।

(४) अशरण भावना - संसार में जीव को कोई शरण नहीं हो सकता क्योंकि सर्व रूपी पदार्थ नाशवान् हैं। अतः मनुष्य को सर्वज्ञ भाषित सत् धर्म का ही शरण लेना कर्तव्य है।

(५) बोधि दुर्लभ भावना—अनादि मोह-भ्रमसे, संसार के आकर्षण से मनुष्य को आत्म बोध होना दुर्लभ है। अतः हे आत्मन्! प्रतिबोध पाने के लिये भागीरथ प्रयत्न कर।

(६) एकत्व भावना—मनुष्य अकेला जन्मता है, मरता है तो अकेला ही जाता है। उसकी किसी रूपी पदार्थ से एकता नहीं। यदि किसी से है तो सिद्ध परमात्मा से है।

(७) लोक संस्थान भावना—अलोक के मध्य यह लोक—पुरुषाकार १४ रज्जु प्रमाण है, जिसमें नरकादि चार गतियां है। कहाँ पर क्या है उनका विचार करना।

(८) आश्रव भावना—मनुष्य मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग में रमण करता है। अतः हे मन! इनमें रमण करना छोड़ नहीं तो दुःख पायेगा।

(६) संसार भावना—जो मनुष्य आश्रवों में रमता है वह संसार के चार गतियों के चौरासी लाख जीवा-योनियों में भ्रमण करता है। संसार दावानल की तरह मनुष्य के चित्त को दग्ध करती है, तथा समुद्र की तरह भय, त्रास देनेवाली है। हे, आत्मा! अतः इसके कृत्रिम सौंदर्य में मोहित न हो।

(१०) संवर भावना—आश्रवद्वार को रोकनेवाला सम्यक्त्व, विरति, अप्रमतदशा, समताभाव तथा तीन गुप्तियां हैं। अतः हे आत्मन्! इन्हें तदनुकूल आचरणकर।

(११) निर्जरा भावना—हे आत्मन् ! इस भयानक संसार भ्रमण से बचने के लिये बारह तप तथा ये बारह भावनाओं का चिन्तन कर एवं क्रमशः धर्म ध्यान ध्याने का प्रयत्न कर।

(१२) धर्म दुर्लभ भावना—चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से मनुष्य आत्म ध्यान से वंचित रहता है, बिना आत्म उपयोग के रहे यथार्थ धर्म होना दुर्लभ है। अतः शीघ्र आत्म साधन करना हो तो तन मन धनको साधना में निछावर कर दे।

२. धर्मध्यान—मनुष्य को दुर्गति से बचाने में समर्थ सर्वज्ञ वचन में विचार-मग्नता को धर्मध्यान कहते हैं। ये चार प्रकार हैं। आज्ञा-विचय धर्मध्यान, अपाय-विचय धर्मध्यान, विपाक-विचय धर्मध्यान, संस्थान-विचय धर्मध्यान।

(१) आज्ञा-विचय धर्मध्यान—सर्वज्ञ की आज्ञा का विचय-विचार, चिन्तन करना है।

भगवान महावीर स्वामी का स्याद्वाद स्वरूप पारमार्थिक प्रवचन जो सातनय, सप्तभंगो से युक्त तथा नाम से, स्थापना से द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे, भावसे एवं प्रत्यक्ष प्रमाण केवल ज्ञानसे प्रमाणित वाणी प्राणिमात्र के लिये हितकारी, भव्य जीव के लिये कल्याणकारी है। इस अमृत तुल्य वाणी को जो प्राणी आदर कर पालन करेगा, वह संसार में सुखी होगा। तथा जो भव्य जीव समझकर सादर पालन करेगा वह मार्गानुसारी बन कर क्रमशः तीव्र कषाय भावों को उपशम कर अपने दर्शन मोहनीय के सातों प्रकृतियों का क्षयोपशमादि करके सम्यग्दृष्टि

बन जायगा, तथा चारित्र मोहनीय कर्म का आंशिक क्षयोपशम करने पर श्रावक के १२ व्रतों को पाल सकेगा, क्रमशः प्रत्याख्यानी कषाय का क्षयोपशम करने पर वह साधु जीवन-पंच महाव्रतादिक पालन कर सकेगा।

(२) अपाय विचय धर्मध्यान, अपाय—दुःखके कारणों का, विचय-विचार, चिन्तन करना। स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाले सभी जीव तथा वे मनुष्य जो भगवान की वाणी के आशय को नहीं समझ पाये हैं, उन्हें आत्म स्वरूप का भान न रहने से शरीरादि में मोह-ममता, राग, द्वेष करते हैं। फल स्वरूप जन्म मरण कर दुःख पाते हैं। अतः भगवान की वाणी के आशय को समझकर रूपी पदार्थों में मोह-ममता तथा कषाय भावों को उपशमादि करने से ही जन्म मरण रूप दुःख से छुटकारा पाया जा सकता है।

(३) विपाक-विचय धर्मध्यान, विपाक-कर्म के फलों का, विचय-विचार चिन्तन करना है। जैसे, कषाय युक्त विषम भावों से जीव जैसे-जैसे आयु, वेदनीयादि कर्मबंध करता है, वैसे वैसे ही उसे अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। अपने उन-उन कर्म फल को भोगने के लिए वैसी गतिमें वैसी-वैसी परिस्थितियों को सहन करना ही पड़ता है। इससे जीव को भय, चिन्ता, दुःख हमेशा बना रहता है। अतः कर्म के इस शृंखला को तोड़ने के लिये विवेकी मनुष्य का कर्त्तव्य हो जाता है कि कर्म फल को भोगते समय उनमें अव्यापक रहकर साक्षी भाव से बरते।

(४) संस्थान विचय धर्मध्यान—संस्थान-संसार के स्वरूप

का, विचय-विचार-चिन्तन करना है। अनंत आकाश के मध्य में असंख्यप्रदेशी पुरुषाकार चौदह रज्जु प्रमाण लोक है। लोक के नीचे के मध्य भागों में सात नरक है, उसके ऊपर भुवनपति नाग कुमारादि देव है, यहाँ तक अधोलोक है। तथा ऊपर वान-व्यन्तरादि देव, उसके ऊपर असंख्य द्वीप, समुद्र वाला मध्यलोक है, बीच के अढ़ाईद्वीपों के १०१ क्षेत्रोंमें मनुष्य, पशु, पक्षी आदि हैं, बाकी सब द्वीपों में तिर्यंच गति के ही जलचर, स्थलचर, खेचर-पक्षी आदि प्राणी है। उसके ऊपर सूर्य, चन्द्रादि ज्योतिषी देव हैं। उसके ऊपर ऊर्ध्वलोक में बारह वैमानिक देवलोक, नव ग्रैवेक, एवं अनुत्तर विमान देव लोक क्रमशः ऊपर-ऊपर हैं। ललाट में सिद्ध-शिला है। एवं लोक के अन्त में अनंत सिद्ध परमात्मा स्थित हैं।

अनादि मोह ममता से स्वछंद वर्तन के कारण जीव जैसे-जैसे कर्म बंधन करता है उसके फल को भोगने के लिये लोक (संसार) के वैसे-वैसे स्थानों में जन्म लेकर वैसी-वैसी परिस्थितियों के द्वारा अपने कर्म फलों को भोगता है।

धर्म-ध्यान में तेज, पद्म, शुक्ल तीन शुभ लेश्याओं में से एक लेश्या होती है। लेश्या की तारतम्यतासे धर्मध्यान में आयु-वेदनीयादि कर्म का बंधन हो तो मनुष्य अपने तारतम्य भावानुसार मनुष्य गति या देवगति में जन्म लेता है। अतः मनुष्य को दुर्गति में ले जाने वाले आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान को उसे इस प्रकार धर्मध्यान से रोकना कर्त्तव्य है।

पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत ध्यान का विवेचन

श्री हेमचन्द्राचार्य कृत योग शास्त्र के आधार से।

पुरुषाकार त्रिलोक के मध्य (नाभि) भागमें, अढ़ाई द्वीपों में १०१ मनुष्य क्षेत्र हैं। जहाँ मनुष्य जन्म लेते हैं। पुरुषाकार लोक (संसार) के अंतमें सिद्धात्माओं का स्थान-मोक्ष है। अतः मनुष्य को अपने संसार-बंधन से मुक्त होकर, अपने लक्ष्य स्थान में पहुंचना है।

मनुष्य शरीर का मध्य—नाभि कमल है, ॐकार की ध्वनि यहाँ से निकलकर ऊर्ध्व गमन करती है। मनुष्य का हृदय, शक्ति केन्द्र तथा मस्तक विचार केन्द्र है, वह हृदय से विश्वास तथा मस्तक से विचार करता है। जीवके आठ रुचक प्रदेश जिनमें कर्म नहीं लगते, वे उसके चेतन शक्ति केन्द्र हैं—त्रिकाल निर्मल हैं। इस विशुद्ध चेतन सत्ता के कारण ही जीव को नैगम नय से आगम में सिद्धात्मा के तुल्य कहा है।

यदि मनुष्य अपने आत्म प्रदेशों को कर्मों से रहित-विशुद्ध करना एवं अपने सत्ता में बीज रूपसे रहे हुए केवल ज्ञान का अनुभव प्रतीति रूपसे करना चाहे तो उसे प्रवृत्ति से निवृत्त होकर या सामायिक (४८ मिनिट तक) लेकर एक आसन में बैठे, तथा समता भाव से पिंडस्थ ध्यान इस प्रकार कर सकता है। 'जांकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी'। जैसे मैं चेतनमय आत्मा जड़ शरीर-पींजड़े में बसा हूं, अतः मध्य शरीर नाभि से ॐ ध्वनि के सहारे ऊर्ध्वगमन कर साधना पद-साधु में पहुंचकर स्थिर हो जाऊँ। (२) पदस्थ ध्यान—पंच परमेष्ठि स्वरूप ॐकार

अनादि मंत्राक्षर उर्ध्व पहुंच कर साधक के मुख मंडल पर पूर्व कथनानुसार स्थिर होता है, उसमें रहे पंच परमेष्ठि स्वरूप का ध्यान करना, पदस्थ ध्यान है।

(३) रूपस्थ ध्यान—भृकुटि में चन्द्राकार पर अरिहन्त भगवान् समवसरे (विराजे) हैं उनको निरखते हुए उनके केवल ज्ञानादिस्वरूप का विचार-ध्यान करने को रूपस्थध्यान कहते हैं।

(४) रूपातीत ध्यान—बिन्दु में सिद्ध परमात्मा के निरंजन, निराकार निर्विकार स्वरूपके ध्यान में तल्लीन होना, याने ध्याता का ध्यान के द्वारा ध्येय में समाजाना-समाधिस्थ हो जाना है।

निज कर्त्तव्य पद—श्री सहजानन्दकृत

चेतन जी ! तुं तारूं सम्भाल, मूकी अन्य जंजाल ।।चेतन०।।
तू छे कोण ? शुं तारूं जगत् मां ? आप स्वरूप निहाल ।
द्रव्य थकी तूं आत्म पदारथ, नित्य अखण्ड त्रिकाल ।।चेतन०।।

वर्ण, गन्ध रस-स्पर्श रहित तूं, अरूपी अविकार ।
असंयोगी अमल अकृत्रिम, ध्रुव शाश्वत एक सार ।।चेतन०।।

षड्गुण हानि वृद्धि चक्रात्मक, पर्यय वर्तना काल ।
लोकाकाश प्रमाण प्रदेशी, क्षेत्र तणा रखवाल ।।चेतन०।।

स्वभावे प्रत्येक प्रदेशे, गुण गण अनंत अपार ।
गुण गुण प्रति पर्याय अनंता, स्व पर उभय प्रकार ।।चेतन०।।

प्रति पर्याये धर्म अनंता, अस्ति नास्ति अधिकार ।
ए ज्ञानादिक संपद तारी, जड़ त्यागी, घर प्यार ।।चेतन०।।

ज्ञाता दृष्टा साक्षी भावे, उपादान सुधार ।
कर्ता भोक्ता सहजानंद नो, अनुभव पंथ स्वीकार ।।चेतन०।।

शुद्ध-शुक्ल ध्यान (मोक्ष का कारण) का विवेचन

सद्गुरु श्री सहजानन्द कृत व्याख्या से।

४ शुक्ल ध्यान—शुद्धात्मानुं ध्यान ते शुक्ल ध्यान।

शुच्-शोक शारीरिक, मानसिक दुःख, लः—तल्लुनाति—विच्छेद करवो, ते शुक्ल ध्यानछे।

(१) आश्रव वड़े प्राप्त थतां दुःख, (२) संसारना अनुभव, (३) जन्म परम्परा, (४) अने पदार्थों नां विपरिणाम विचारवायी, अनुप्रेक्षा करवाथी शुक्लध्याननी दृढ़ता थाय छे।

अनभिसंधिज—कषाय थी वीर्यनुं प्रवर्त्तवुं। अभिसंधिज—आत्मानी प्रेरणा थी वीर्यनुं प्रवर्त्तवुं। शुक्लध्यानी नां चार चिन्हों—लक्षण आछे।

(१) अवध—परिषह, उपसर्ग प्रत्ये अचलता। (२) असंमोह-सुक्ष्म अने गहन देव मायादिमां पण न मुंझावुं। (३) विवेक—देहादि त्रिविध कर्मों थी तद्दन असंग, ऐवा ज्ञायक भावमां तन्मयता। (४) व्युत्सर्ग—देहादि सुखोंनुं त्याग—देहातीत जीवन।

१. पृथक्त्व-वितर्क-सविचार शुक्ल ध्यान छे। (१) स्व-द्रव्य-पर्यायगत गुणोंनुं गुणांतर पणे संक्रमणते-पृथक्त्व, (२) नैगमादि विविध नयाश्रित शास्त्र बोधते-वितर्क (३) अर्थ—'प्रयोजन भूत द्रव्य पर्याय' मां रहेला लयनुं व्यंजन (शब्द) मां संक्रमण तथा व्यंजन मां रहेला लयनुं योगमां संक्रमण ते सविचार।

चौदह पूर्वगत् श्रुतनां रहस्य-भूत मात्र आत्मीय पृथक-पृथक गुण पर्यायों सम्बन्धि नानां प्रकार नां नयाश्रित निर्मल विचार धारा-स्थिरताने पृथक्त्व-वितर्क—सविचार शुक्लध्यान कहे छे।

आ प्रथम शुक्ल ध्यान थोड़ा चपल तरंग वाला
दुंना क्षोभ रहित समुद्रनी जेम मन वचन
काया नां योग वाला मुनि घर साधक ने होय।
शुक्ल ध्यानी महापुरुष ने शुक्ल लेश्या होय।

२—एकत्व वितर्क अविचार-शुक्लध्यान, समस्त श्रुत ज्ञाननां रहस्यभूत केवल निज आत्मद्रव्य सम्बन्धि गुण पर्यायनां एकत्व पणे नानां नयाश्रित निर्मल विचार धारा—लीनतावाले बीजुं शुक्लध्यान छे। आ ध्यान वायु रहित स्थान स्थित दीपक नी माफक निष्कंप होयछे, आ ध्यानमां स्थिरताथी कैवल्य प्रगटाय छे।

३—सूक्ष्मक्रिया निवृत्ति—शुक्लध्यान—सूक्ष्म-बादर मन, वचन योगो अने बादर काया योगनु रूंधन त्रीजु शुक्लध्यानछे। आ ध्यान तेरमा गुणस्थान नो अंते केवली ने वर्ततुं होयछे।

४—समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाति शुक्लध्यान—त्रणे योगनो व्यापार नो सर्वथा उच्छेद थाय, ते चौथु शुक्लध्यान छे। शैलेसी अवस्था मां चौदमें गुणस्थाने होयछे।

पद

दर्शन-ज्ञान-रमण एक तान, करता प्रगटे अनुभव ज्ञान।
देह आत्म जेम खड्ग ने म्यान, टले भ्रान्ति अविरति अज्ञान।
ज्ञाता दृष्टा शास्वत धाम, सच्चिदानन्द आतमराम।
ध्याता ध्यान ध्येय गतकाम, हूं सेवक ने हूँ छुं स्वाम।

ॐ सहजानन्द

ॐ नमः

समकितना सड़सठ बोलनी सज्झाय का भावार्थ

श्री यशोविजय कृत

सद्दहणा चार प्रकार हैं—१-परमार्थसंस्तव—जीवादि तत्वोंकी हार्दिक श्रद्धा करना। २-सम्यग् ज्ञानी सद्गुरु की सेवा, भक्ति करना। ३-व्यापन्न दर्शन वर्जन—हीणाचारी कुगुरु का संग न करना। ४-कुदर्शन वर्जन—मिथ्या दर्शनीयों का परिचय न बढ़ाना।

लिंग-तीन प्रकार है। १-शुश्रूषा—धर्म सुनने, जानने की अभिरुचि। २-धर्मप्रेम "क्षुधातुर को मिष्टान्न की इच्छा की तरह" धर्म में रुचि। ३—वैयावच्च-सच्चे साधु-साध्वी की सेवा, सुश्रूषा, आहार, वस्त्रादि देना, सुपात्रदान है।

विनय दस प्रकार हैं। १ अरिहंत भगवान का विनय भक्ति करना। २-सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करना। ३-जिन चैत्य का—प्रभुमूर्ति का पुजा सेवा करना। ४-श्रुत-सिद्धान्त का अध्ययन, मनन करना। ५-दस प्रकार यति धर्म का आदर करना। ६-साधुओं की सेवा शुश्रूषा करना। ७-आचार्य महाराज तथा ८—उपध्याय महाराज की सेवा शुश्रूषा करना। ९-प्रवचन संघ-जिन आज्ञा के अनुयाइयों का विनय करना। १०-सम्यग् दर्शन का आदर करना।

शुद्धि तीन प्रकार हैं। १-मनशुद्धि—मन से कुमति-ममता से निरादर सुमति-समता को धारण करनेसे। २-वचन शुद्धि

हितकर सत्य बोलने से। ३-कायशुद्धि—हिंसा, चोरी, मैथुन, आरंभादि त्यागने से।

दूषण पांच प्रकार हैं। १-शंका—सर्वज्ञके वचन में शंका करना। २-कांक्षा—एकान्त वादी मत में रुचि होना। ३-विचिकित्सा-जिन धर्म के फलमें संदेह करना। ४-मिथ्यात्वियों की प्रशंसा करना। ५-मिथ्यामति का परिचय बढ़ाना।

प्रभावक-आठ प्रकारके होते हैं। १—शास्त्रोंमें पारगामी। २-अपूर्व धर्म उपदेशक। ३—परवादी को निरुत्तर करने वाले। ४-नैमित्तिक ज्ञानी, ५-तपस्वी। ६-मंत्र एवं विद्या में प्रवीण। ७-सिद्धि संपन्न। ८-श्रेष्ठ कविता बनाने वाले।

भूषण पांच प्रकार हैं। १-जिन शासन में कुशलता। २-जिन शासन की प्रभावना। ३-तीर्थों की सेवा करना। ४-जिन धर्म में निश्चलता। ५-शुद्धदेव, गुरु की भक्ति करना।

लक्षण पांच प्रकार हैं। १-उपशम—क्रोध, मान, माया, लोभ, को शान्त करना। २-संवेग—धर्मकार्य में रुचि होना। ३-निर्वेद-संसार कार्य में अरुचि होना। ४-अनुकम्पा स्व-पर में दया बुद्धि रहना। ५-आस्तिक्य—स्व आत्मा में तथा सर्वज्ञ के शासन में श्रद्धा रहना।

यतना-छ प्रकारहैं। १—मिथ्यात्वि देव को वन्दनादि न करना। २-भेषधारी साधु को सद्गुरु समझ वन्दन न करना। ३-कुपात्र में सुपात्र की बुद्धि से दानादि न देना। ४-तथा आग्रह से बारम्बार दान न देना। ५-आलापना,

६—संलापना—मिथ्या-मतियों से धर्म सम्बन्धी चर्चा न करनेसे समकित पुष्ट होती है।

आगार छः प्रकार हैं। १—राजाभियोग से। २—गणाभियोग से। ३-बलाभियोग से। ४-देवाभियोग से। ५-कांतारवृति से। ६-गुरु निग्रह से। इन कारणों से समकित व्रत में वचन काया से बाधा आवे तो छूट रहती है, किन्तु सम्यग्दृष्टि मनुष्य को मन से तो दृढ़ रहना कर्तव्य है।

भावना छः प्रकार है। (१) समकित को जिन धर्म का मूल समझना। (२) इसे धर्म मन्दिर का पाया जानना। (३) इसे जिन धर्म का आधार मानना। (४) इसे धर्म रूपी नगर का द्वार समझना। (५) समकित को आत्मधर्म का भाजन जानना। (६) समकित को आत्म धर्म का निधि मानना।

स्थानक छः हैं। (१) जीव है। (२) जीव नित्य है। (३) जीव कर्म का कर्त्ता है। (४) कर्म का भोक्ता है। (५) जीव का मोक्ष है। (६) मोक्ष का उपाय सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र है। इसे 'आत्मसिद्धि' के अनुवाद में विस्तार से लिख चुके हैं, वहाँ से जान लेवें।

इस प्रकार सड़सठ भेद से समकित व्रत को धारण कर पालने वाला मनुष्य श्रावक के बारह व्रतों को ग्रहण कर सकता है, या साधु के पंच[1] महाव्रतों को पाल सकता है, क्योंकि

१—पंच महाव्रत—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन तथा परिग्रहादि का निकरण, त्रियोग से त्याग करने रूप है। साधु आचार के विषय में जानना हो तो आचारांग सूत्र, दसवैकालिक सूत्र देखें।

गृहस्थ के आंशिक १२ व्रतों का संक्षिप्त विवरण

१—स्थूल प्राणातिपात विरमण—संकल्प करके निरपराधी त्रस जीवों को बिना कारण नहीं मारूंगा, न मरवाऊंगा, मन से, वचनसे, कायासे। तथा अपने जीवन निर्वाह के आवश्यकतानुसार पांच स्थावर जीवों की हिंसा की भी श्रावक नित्य सीमा करता है। गृहस्थी के कार्य जयणा से करने पर भी जल्दी में भूल चूक से जीवों को हिंसा हो जाती है। इसके लिये तथा इस व्रत में पांच अतिचार लग सकते हैं, इसके प्रायश्चित्त के लिये सुबह सांझ प्रतिक्रमण करने का विधान है। दूसरे प्राणियों की रक्षा करते हुए, दयावृत्ति से जीवन निर्वाह करना व्यवहार से अहिंसा व्रत है, तथा अपने आत्मा की मिथ्या और कषाय भाव से रक्षा करना ही निश्चय से अहिंसा है।

२—स्थूल मृषावाद विरमण—प्रिय हितकारी सत्य वचन बोलना तथा गृहस्थ जीवन निर्वाह के लिये भी पांच बड़े झूठ न बोलना जैसे, कन्या के बारे में, पशुओं के बारे में, मकान, जमीन के बारे में, किसी की अमानत के बारे में, तथा झूठी साक्षी न देना। यह व्रत भी दो करण तीन योग से होता है। इस व्रत के भी पांच अतिचारों का आलोयन प्रतिक्रमण में ... यह व्यवहार सत्य है, तथा जिनवाणी के अनुकूल ... सत्य है।

... विरमण—लोभवश दूसरे की धनादि ... बिना चोरी के इरादे से नहीं लूँगा,

जिन आज्ञा में समकित मूल व्रतादि कहे गये हैं। अतः भव्य जन का कर्त्तव्य होता है कि मिथ्यात्व को त्याग कर सम्यक्त्व ग्रहण करके इस प्रकार मन शुद्धि करे, तथा अविरति-ममता रूप आचरण को त्यागकर, विरति-समता रूप आचरण कर मन, वचन, काया की शुद्धि के द्वारा आत्मशुद्धि-अपनी भावनाओं की शुद्धि करे। आत्म शुद्धि के विषय में पहले लिखा जा चुका है। अतः श्रावक के आंशिक व्रतों को संक्षेप से लिखेंगे। जिन्हें व्रत लेना हो उन्हें सद्गुरु की शरण में जाना कर्त्तव्य है।

आत्मा के आश्रव भाव की निन्दा—पद

मुझ सम कौण अधम महापापी, संवर भाव उथापी। मुझ०।
पर द्रव्ये उपयोग रमणता, आत्महिंसकता व्यापी।
हुं माहं परलक्षे भाषण, मृषावाद आलापी। मुझ०। २।
ग्रहण भोगवे पर पुद्गलने, चोरी मैथुन थापी।
नाम रूप मूर्छाए राखुं, परिग्रह माह अमापी। मुझ०। ३।
अभ्यंतर अविरति रति तोषण, द्रव्य-लिंगता छापी।
आश्रव रमणे संवर थापुं, मोक्ष मार्ग अपलापी। मुझ०। ४।
आत्म अभाने तत्त्व प्रबोधुं, नय एकान्त प्रलापी।
अहंभाव निज इन्द्रत्व पोषुं, जाणे हुंज प्रतापी। मुझ०। ५।
करुं आलोचन दोष प्रकाशी, निज आचरणा मापी।
सहजानन्द, प्रभु तारक! तारो आप शरण में आपी। मुझ०। ६।

ॐ सहजानन्द

गृहस्थ के आंशिक १२ व्रतों का संक्षिप्त विवरण

१—स्थूल प्राणातिपात विरमण—संकल्प करके निरपराधी त्रस जीवों को बिना कारण नहीं मारूंगा, न मरवाऊंगा, मन से, वचनसे, कायासे। तथा अपने जीवन निर्वाह के आवश्यकतानुसार पाँच स्थावर जीवों की हिंसा की भी श्रावक नित्य सीमा करता है। गृहस्थी के कार्य जयणा से करने पर भी जल्दी में भूल चूक से जीवों की हिंसा हो जाती है। उसके लिये तथा इस व्रत में पाँच अतिचार लग सकते हैं, उसके प्रायश्चित्त के लिये सुबह सांझ प्रतिक्रमण करने का विधान है। दूसरे प्राणियों की रक्षा करते हुए, दयावृति से जीवन निर्वाह करना व्यवहार से अहिंसा व्रत है, तथा अपने आत्मा की मिथ्या और कषाय भाव से रक्षा करना ही निश्चय से अहिंसा है।

२—स्थूल मृषावाद विरमण—प्रिय हितकारी सत्य वचन बोलना तथा गृहस्थ जीवन निर्वाह के लिये भी पाँच बड़े झूठ न बोलना जैसे, कन्या के बारे में, पशुओं के बारे में, मकान, जमीन के बारे में, किसी की अमानत के बारे में, तथा झूठी साक्षी न देना। यह व्रत भी दो करण तीन योग से होता है। इस व्रत के भी पाँच अतिचारों का आलोयन प्रतिक्रमण में होता है। यह व्यवहार सत्य है, तथा जिनवाणी के अनुकूल वचन बोलना निश्चय सत्य है।

३—स्थूल अदत्तादान विरमण—लोभवश दूसरे की धनादि कोई वस्तु उसकी जानकारी बिना चोरी के इरादे से नहीं लूँगा,

न किसीको देने को कहूँगा। यह व्रत भी दो करण तीन योग से होता है। इसके पांच अतिचार हैं जैसे, चोरी का माल खरीदना, चोरी की राय देना, वस्तु में मिश्रण करना, राज्य के टैक्सादि की चोरी करना, जाली नाप तौल करना है। इनसे बचना चाहिये, यदि दूषण लग जाय तो प्रतिक्रमण में पश्चाताप करना चाहिये। यह व्यवहार से अचौर्यव्रत है, तथा पांच इन्द्रियों के २३ विषयों से आत्मा की रक्षा करना निश्चय से अचौर्य व्रत है।

४—स्थूल मैथुन विरमण—पुरुष के लिये स्वस्त्री तथा स्त्री के लिये पति को छोड़कर बाकी सब स्त्री, पुरुष, पशु आदि से सम्भोग करने का त्याग तथा स्वस्त्री से भी नियमित सम्भोग, को कहते हैं। यह व्रत भी दो करण तीन योग से होता है। इसके भी पांच अतिचारों से बचना चाहिये, यदि लगे तो पश्चाताप करना कर्तव्य है। यह व्यवहार से ब्रह्मचर्य व्रत है, तथा निश्चय से आत्म उपयोग में रहना ही ब्रह्मचर्य है।

५—स्थूल परिग्रह परिमाण—लोभ की सीमा करके संतोष रखना जैसे, धन, धान्य, मकान, जमीनादि नौ प्रकार के परिग्रहों की सीमा निश्चित कर बाकी सब का त्याग कर देना। यह व्रत भी दो करण तीन योग से है। इसके भी पांच अतिचार से बचना कर्तव्य है तथा दूषण लगे तो पश्चाताप करना। यह व्यवहार से व्रत है, तथा निश्चय से शरीर, धनादि में मूर्छा न रहना ही अपरिग्रह व्रत है।

६—दिशि परिमाण-गुण व्रत—दसों दिशाओं में व्यापार

तथा मौज शौक के लिये अमुक हद से अधिक न जायेंगे, ऐसे नियम रखने को कहते हैं। चिट्ठी देना पुस्तकादि मंगाने भेजने की जयणा रख कर यह व्रत भी दो करण तीन योग से है। इस व्रत के भी पाँच अतिचार से बचना चाहिये तथा दूषण लगने से पश्चाताप करना चाहिये। यह व्यवहार से व्रत हैं निश्चय से आत्म स्वरूप में स्थिर रहना ही व्रत है।

७—भोगोपभोग विरमण-गुणव्रत—अन्नादि जो एक बार भोगा जा सके उसे भोग, तथा वस्त्रादि जो बार-बार भोगा जाय उसे उपभोग कहते हैं, नित्य आवश्यकतानुसार उन वस्तुओं की सीमा बाँधना—चौदह नियम नित्य चितारना। श्रावक को मांस, मछली, ज़मीकन्द, अभक्ष्य एवं मदिरादि का त्याग रहता ही है, तथा रात्रिभोजन भी न करना चाहिये। १५ कर्मादानों को त्यागना चाहिये, यह व्रत भी दो करण तीन योग से है। इसके भी पाँच अतिचारों को टालकर व्रत पालना चाहिये। तरकारी, फलादि वनस्पतियाँ भी सीमित रखना चाहिये। यह व्यवहार से व्रत है, तथा निश्चय से स्व ज्ञानादि गुण में भोग उपभोग याने रमण करना है।

८—अनर्थ दण्ड विरमण-गुण व्रत—'विण खावे विन भोगवे फोकट कर्म बँधाय' आर्त्तध्यान रौद्रध्यान करने से बचना, पापोपदेश देने से बचना, हिंसक कार्य में मदद न देना, तथा प्रमाद सेवन से एवं विकथाओं से बचना चाहिये। यह व्रत भी दो करण तीन, ... पाँच अतिचारों से बचना चाहिये।

यह व्यवहार से व्रत है, तथा पुद्गलानन्दी न रहना तथा आत्म रमण ही निश्चय से व्रत है। यह ३ गुण व्रत, पाँच अणुव्रतों में गुण वृद्धि करते हैं।

६—सामायिक शिक्षा व्रत—गृहस्थ सबेरे तथा जब समय मिले दो घड़ी पर्यन्त करेमिभंते पाठ पूर्वक एक आसन में बैठकर धार्मिक स्वाध्याय या ध्यान करते हैं, उसे व्यवहार सामायिक कहते हैं। निश्चय सामायिक का पहले वर्णन कर चुके हैं। यह व्रत भी दो करण तीन योग से है।

(१) मन के १० दोष—अविवेक, यशलिप्सा, धन की चाह, व्रताभिमान, भय, निदान, फल में संशय, सकषायप्रवर्तन, अविनय, उलंठता। सामायिक में इन मन के १० दोषों से बचना चाहिये।

(२) वचन के १० दोष—कुत्सित वचन, बिना विचारे बोलना, अपेक्षा रहित वचन, कलंक देना, सूत्र पाठ संक्षेप, कलह, विकथा, हास्य, अशुद्ध पाठ, अधूरे शब्द बोलना। सामायिक में इनसे बचना चाहिये।

(३) काया के १२ दोष—उद्धतासन, चंचलता, चंचलदृष्टि, सावद्य-प्रवृत्ति, सहारे से बैठना, हाथ-पैर फैलाना, आलस्य, अंगुली आदिका कड़का निकालना, खुजाना, धोती, चद्दर के अलावा वस्त्र पहनना, निद्रा, चिन्तित रहना है, सामायिक में इनसे बचना चाहिये।

(४) निरादरता से, चपलता से, ९

(६) स्मृति विहीन हो सामायिक न करनी चाहिये सामायिक व्रत के पांच अतिचारों का ध्यान रखकर सामायिक करें तथा दूषण लगने से सामायिक पारते समय "भयवंदंसणभद्दो" पाठ से पश्चाताप कर लेवें।

१०—देशावगासिक - शिक्षाव्रत—गृहस्थ समय मिलने पर तीन से पन्द्रे सामायिक तक एक साथ ग्रहण कर स्वाध्याय या ध्यान करते हैं, यह व्रत भी दो करण तीन योग से है। इस व्रत के भी पांच अतिचारों से बचकर व्रत पालना चाहिये।

११. पौषधोपवास शिक्षाव्रत—अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों में गृहस्थी के आरम्भ समारम्भ से बच कर साधु जीवन की शिक्षा के लिये तथा दिवारात्रि आत्मसाधन के लिये उपवास सहित पौषध करना, जिसमें दोनों वक्त प्रतिक्रमण, पड़िलेहन, देववन्दन, स्वाध्याय तथा ध्यान विशेष रूप से करना चाहिये। यह व्रत भी दोकरण तीन योग से है। इस व्रत के भी पांच अतिचारों से बचना चाहिये, दूषण लगे तो पश्चाताप करना चाहिये।

१२. अतिथि संविभाग-शिक्षाव्रत—आठ प्रहर पौषध के पारणे के दिन मुनिराज को बहराकर (देकर) जो-जो वस्तु वे लेवें उसीसे स्वयं एकासना कर संतोष करना। साधु, साध्वी को आहार पानी देना, स्वामिवात्सल्य करना एवं विशेष कर अभावग्रस्त श्रावक, श्राविका को भोजन वस्त्रादि यथाशक्ति देना। यह व्रत भी दो करण तीन योग से है। इस व्रत के पांच अतिचारों

से बचना कर्तव्य है। इन चारों व्रतों से मनुष्य को साधु जीवन की शिक्षा मिलती है, अतः इन्हे शिक्षाव्रत कहते हैं।

ज्ञानाचार के ८, दर्शनाचार के ८, चारित्राचार के ८, तपाचार के १२, वीर्याचार के ३, सम्यक्त्व के ५, श्रावकाचार के ६०, पन्द्रह कर्मादानों के १५, संलेषणा व्रत के ५, कुल १२४ अतिचारों से बचना चाहिये, यदि दोष लगे तो प्रतिक्रमण में पश्चाताप करना कर्तव्य है।

बारह व्रत पालने में अशक्त मनुष्य को कम से कम सात व्यसन (बुरी आदतों) को अवश्य त्यागना चाहिये।

१—अनर्थक हिंसा के कार्य न करना, न कराना, न समर्थन करना। जैसे—शिकारादि करना तथा लोभ या द्वेषवश युद्धादि की चर्चादि करना।

२—विश्वासघात नहीं करना, जहाँ तक बने झूठ न बोलना।

३—चोरी न करना तथा किसी का धनादि नहीं हड़पना।

४—वेश्या या पर स्त्री आदि से सम्भोग नहीं करना।

५—घुड़दौड़, जूआदि नहीं खेलना।

६—मांस, मछली तथा मदिरादि सेवन नहीं करना।

७—नीति अथवा धर्म विरुद्ध ऐसा कार्य न करना, जिस कार्य से लोकमें निन्दा हो तथा राज से दण्ड मिले।

महा मोहनीय तीस स्थानक सज्झाय

सद्‌गुरु श्री सहजानन्द कृत ।

दोहा—निर्मोही पद साधवा, निर्मोही गुरुराज,
वंदूं परम कृपालु ने, परा भक्तिए आज ।१।
भव अनेक अति दुःखदा, रौद्र वर्तना जेह,
महा मोहनीय कर्म नुं, शास्त्रे लक्षण एह ।२।
त्रीशस्थानक तेहना, शुद्ध भाव थी आज,
प्रतिक्रमण थी घटूं, सहजानन्द जहाज ।३।

ढाल (रानीपद्मावती)

संक्लिष्ट चित्ते में हण्या, त्रस जीवों ना प्राण,
पाद घाते जळ डुबवी, पहेलूं ए मोह ठाण,
ते मुज मिच्छामि दुक्कडं ।१।
आर्द्र चर्मादिक शस्त्र थी, तोड्या अंग उपंग,
गिरि मानव वध बंधने, बीजा भेदनो संग । ते मुज० ।२।
निर अपराधी त्रसादिनां, गूँगळावी ने मुख,
त्रिजे प्राणो अपहर्या, दीधा असह्य दुःख । ते मुज० ।३।
धिखती घराना व्यूह थी, वन्हि धूम्र प्रयोगे,
जीव अनंता में हण्या, मोह तुर्यना योगे ।ते मुज० ।४।
कत्लखाने क्रूरता धरी, घड़ शीर्ष विड़ारी,
पंचम स्थाने हुं थयो, घोर पाप आचारी ।ते मुज० ।५।
छट्ठे विषयोगादि थी, कीधा विश्वास घात,
नायां फैंकने, थइ काल नो भ्रात ।ते मुज० ।६।

भेद सप्तम अपलाप थी, हा ! हुं मृषावादी,
द्रव्य भाव प्राणो हण्या, थयो निन्हव शिकारी । तेमुक्त० ।७।
शुचि घातादि पोतेकरी, परने दीधा कलंक,
अष्टम स्थाने मोहनो, थयो अहनो वंक । ते मुक्त० ।८।
नयने भूंडी मांखिये, कन्दर्प केलने जोड्या,
नारदिया शिखावडे, कमो सुख मरोड्या । ते मुक्त० ।९।
शरणागत संतापिया, दसमां मोहने योग,
सत्ता सामग्री भूपादिनी, ध्वंस्या तेहना भोग ।ते मुक्त० ।१०।
कुमार भावो दाखयो, भोलायी कई कुमारी,
एकादशे मन्मथ वशे, थयो बहु अनाचारी ।ते मुक्त० ।११।
द्वादशे हुं लम्पट छतां, ब्रह्मचारी ना बोले,
सखीओ भोलववा भूंडी, खर यम गायो ना टोले ।ते मुक्त० ।१२।
जीवनदाता नृपादिना, विश्व लोभे लोभायो,
छल भेदे वंची आतमा, तेरमें थायो । ते मुक्त० ।१३।
निज दारिद्र हर्ता तणी, नबली स्थिति ने जोई,
दुःख दीधा अपकारिए, चौद में थयो द्रोही ।ते मुक्त० ।१४।
गुरु, नृप, सेठ भर्तारनी, नागणीवत् चिंती घात,
शिष्य, मंत्री, भृत, स्त्रीपणे, पंदर में ठाणे कजात । ते मुक्त० ।१५।
प्रजावत्सल नृप नायको, हा मैं मार्यो मूढ थी,
निरूंपण कुल थंभने, सोलमे थयो क्रोधी ।ते मुक्त० ।१६।
सत्तर में भव सिन्धु मध्ये, त्राता द्वीपनी जेम,
गणधरादि उपदेशको, मार्या आणी न रेम ।ते मुक्त० ।१७।

रक्षक जीव छकायना, साध्वादि बलात्कारे,
धर्मभ्रष्टता थी गयो, अष्टादश में द्वारे। ते मुक्त० ।१८।
अनंत ज्ञानी निर्देशना, बोल्यो अवरणवाद,
एकोनविंशति मोहथी, लाग्यो नास्तिक मतवाद। ते मुक्त० ।१६।
निर्दूषण जिन मार्ग ने, निन्दी वीशमें ठाणे,
भोला जीव भरमावीने, जोड्या कुपथ अन्नाणे। ते मुक्त० २०।
श्रुत चारित्र दाता गुरु, निन्दा तेहनी कीधी,
एकवीशमां ठाणे धरी, पासत्थादिक ऋद्धि। ते मुक्त० ।२१।
उपकारी गुरु वृन्दनी, नकरी सेवा दुर्भावे,
अविहेलना अति आचरी, बावीस में अहंभावे। ते मुक्त० ।२२।
ठाण त्रेवीस मोह छाकथी, महा मूढ अज्ञाणी,
अनुयोगधर श्रुतधारी छुं, जाहेर माँ वचोवाणी। ते मुक्त० ।२३।
चोवीसमें मोह वृद्ध हूँ, खान पान माँ मारे,
तपसी नाम धरावीने, अशनादिक छुद्याचारे। ते मुक्त० ।२४।
वैयावच्च वृद्ध, ग्लानीनी, न करी छती शक्तिए,
बीज विमुखता पच्चीसमें, लोभाई प्रति भक्तिए। ते मुक्त० ।२५।
छब्बीसमें तीर्थ भेदिका, राज्यादिक विकथा चारे,
हिंसक शास्त्र रचनादि थी, बांध्या कर्म जे मारे। ते मुक्त० ।२६।
वशीकरणादि प्रयोग थी, जीवों पीड़ाव्या क्षोभे,
सत्तावीस ठाणे चढ्यो, आत्म श्लाघानां लोभे। ते मुक्त० ।२७।
अठावीस क्षण स्थायीजे, पंच अक्षना भोग,
लोभायो हुँ जग ऐठमां, पाम्यो भ्रान्त्यादिक रोग। ते मुक्त० ।२८।

सातिशयमय देवर्द्धि, धरी अश्रद्धा तेमां,
निन्दा करी मतिमन्द मैं, मोह ओगणत्रीशमा। ते मुझ० ।२६।
हूं जिन देवो ने जोडूं छुं, बोल्यो वृथा अपलाप,
त्रीशमें गोशालक पणे, हा! हा! किधा मैं पाप। ते मुझ० ।३०।
स्थान तीस महा मोहना, मैं सेव्या वारम्वार,
भवो भवमां ममता, हा! हा! हजी तेमां छे प्यार। ते मुझ० ।३१।
उपसंहार :—अधमाधम घोर पापीयो, कुल संपन्न दीन,
पामर रंक पतित हूं, पर परिणत्ते लीन। हाथ धरो प्रभु माहरो ।३२।
अशरण भावे थायछुं नाही सद्गुणनो अंश,
सहायकारी जग को नहीं, मातो जाति के वंश। हाथ धरो० ।३३।
पतित उद्धारक तातजी, करुणालु कृपावंत,
शरणे आव्यो छुं हूं ताहरे, परम गुरु भगवन्त। हाथ धरो० ।३४।
छोड़ावो मुझ मोह फन्दथी, मारूं चालेना जोर,
महेर नजर करो बापजी, म्हारी तुम हाथे दोर। हाथ धरो० ।३५।
आप सामे हूं पडिक्कमुं, मोह वृन्द ने आज,
वर संवर-क्रियाधीन थई, पामुं शिव नगरी राज। हाथ धरो० ।३६।

कलशः—पडिक्कमु सद्गुरु राज सामो, मोहराय पदावली,
योग किया फल त्रय अवंचक, भाव अधीनतामली।
करो एकता निज सत्वमां, उदये अव्यापकता धरी,
संवर सधे कृत्य-कृत्य, सहजानन्द कन्दर मां वरी।

ॐ शान्ति।

ॐ नमः

चौवीश जिन चैत्यवन्दन, स्तवन-संग्रह

दर्शनं देव देवस्य, दर्शनं पाप नाशनम्,
दर्शनं स्वर्ग सोपानं, दर्शनं मोक्ष साधनम्।
प्रभु दर्शन सुख संपदा, प्रभु दर्शन नव निधि,
प्रभु दर्शन से पामीये, सकल मनोरथ सिद्धि।
प्रभु नामे सुख संपजे, प्रभु नामे दुःख पलाय,
प्रभु नामे भय भय टले, प्रभु नामे अक्षय सुख थाय।
भावे जिनवर पूजीये, भावे दीजे दान,
भावे भावना भावियें, भावे केवल ज्ञान।
मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गोतम प्रभु,
मंगलं स्थूलिभद्राद्या, जैन धर्मोस्तु मंगलम्।

१—श्री ऋषभदेव जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानन्द कृत

सिद्ध ऋद्ध प्रगटाववा, प्रणमुं आदि जिणंद,
अशुद्ध योग प्रण तजी, प्रशस्त राग अमंद ॥१॥
केवल अध्यातम थकी, तप जप क्रिया सर्व,
भवोपाधि भ्रम नवि टले, वधे शुष्कता गर्व ॥२॥
कारण कर्त्तारोपथी, परामक्ति प्रगटाय,
दोष टले दृष्टि खुले, सहजानन्द घन थाय ॥३॥

१—श्री ऋषभ जिन स्तवन (१) श्री आनन्दघन कृत (राग मारु)

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, ओर न चाहुं रे कंत ॥
रीझ्यो साहेब संग न परिहरे रे, भांगे सादिअनंत ॥ ऋषभ ॥१॥
प्रीतसगाईरे जगमां सहु करे रे, प्रीतसगाई न कोय ॥

प्रीतसगाईरे निरुपाधिक कही रे, सोपाधिक धन खोय ॥ ऋषभ ॥२॥ कोई कंतकारण काष्ठ भक्षण करेरे, मिलसुं कंतने धाय ॥ ए मेळो नवि कहिये संभवे रे, मेळो ठाम न ठाय ॥ ऋषभ ॥३॥ कोई पतिरंजन अति घणुं तप करे रे; पतिरंजन तन ताप ॥ ए पतिरंजन में नवि चित्त धर्युं रे, रंजन धातु मिलाप ॥ ऋषभ ॥४॥ कोई कहे लीलारे अलख अलख तणी रे, लख पूरे मन आश ॥ दोषरहितने लीला नवि घटे रे, लीला दोष विलास ॥ऋ०॥५॥ चित्तप्रसन्नेरे पूजन फल कह्युं रे, पूजा अखंडित एह ॥ कपट रहित थई आतम अरपणा रे, आनन्दघन पद रेह ॥ ऋ० ॥६॥

२—श्री ऋषभदेव जिन स्तवन (२)—श्री देवचन्द्र कृत

ऋषभ जिणंदशुं प्रीतडी। किम कीजे हो कहो चतुर विचार। प्रभुजी जइ अलगा वस्या। तिहां किणे नवि हो कोई वचन उचार। ऋषभ० ॥१॥ कागळ पण पहोंचे नहीं। नवि पहोंचे हो तिहां को परधान ॥ जे पहोंचे ते तुम समो। नवि भाखे हो कोईनुं व्यवधान। ऋ० ॥२॥ प्रीति करे ते रागिया। जिनवरजी हो तुमे तो वीतराग ॥ प्रीतडी जेह अरागीथी। मेळववी ते लोकोत्तरमार्ग ॥ऋ० ३॥ प्रीति अनादिनी विष भरी। ते रीते हो करवा मुज भाव ॥ करवी निर्विष प्रीतडी। किण भांते हो कहो बने बनाव। ऋ० ४॥ प्रीति अनंती परथकी। जे तोडे हो ते जोडे एह ॥ परम पुरुषथी रागता। एकत्वता हो दाखी गुण गेह ॥ऋ० ५॥ प्रभुजीने अवलंबतां। निज प्रभुता हो प्रगटे

गुणरास ॥ देवचन्द्रनी सेवना। आपे मुझ हो अविचल सुखवास॥श्रृ० ६॥

श्री जिन दर्शन-पूजन स्तवन

(१) श्री सहजानन्द कृत (चाल—ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरोरे)

चलो सखि श्रद्धा ! प्रभु मंदिरे रे, दर्शन पूजन काज।
प्रभु दर्शन थी आत्म दर्शन सधेरे, पूजतः पूज्य स्वराज।चलो०१।
असंख्य प्रदेशी शुद्ध मन मंदिरे रे, प्रभु सहजात्म स्वरूप।
सर्वांगे व्यापक नित्य ध्याईयेरे, अनंत चतुष्टय भूप।चलो० २।
पंच मिथ्यात्व वमन ते अभिगमारे, दश-त्रिक मोहनीय स्थान।
अनंतानुबंधी चऊ साथीयो रे, तजी करो प्रभु बहुमान।च० ३।
त्रणी दृष्टि-मोह त्रिक दगली करोरे, चोक्खे चित्त धरो ध्यान।
प्रगटे अनुभव ज्ञान केवल कला रे, साध्य बिन्दु सिद्ध स्थान।च०४
योग त्रयी प्रभु चरण चढ़ाविएरे, अंग पूजा अभिराम।
समिति-गुप्ति थी, प्रवृति निवृतिए, अग्र पूजा गत काम।चलो० ५।
कषाय थी उपयोग न जोड़िये रे, भाव पूजा ए खास।
प्रतिपत्ति पूजा वीतरागतारे, सहजानन्द विलास।चलो० ६।

श्री वीतराग प्रभु मिलन स्तवन

(२) श्री सहजानन्द कृत (चाल-उपरका)

कहो सखी ! प्राणेश्वर केम भेटीयेरे, प्रियतम तो वीतराग।
अगम देश जई अलखपुरे वस्यारे, रूपादिक करी त्याग।
पत्र तार फोन पहोंचे नहीं रे, स्टीमर रेल विमान।
पहोंचे न हरि-हर देव संदेशड़ोरे, थाक्या अति मतिमान।कहो०।

द्वारलो विविध धर्ममत अनुसरी रे, विविध त्याग परधार।
होम हवन तप जप करी करी पच्यारे, लह्यो न मिलन प्रकार।
धारे खुँट मो तीरथ फरचारे, नहाया यमुना गंग।
वेद वेदांग पुराण कंठे करचारे, पण सौ विफल तरंग। कहो०।
सुमति कहे सखि श्रद्धा सांभलोरे, प्रियतम हृदय मझार,
राग तजी चिद् धातु शुद्ध करोरे, स्वामि प्रकृति अनुसार। कहो०।
उपयोगे उपयोग एकत्वतारे, ए पति मिलन प्रकार,
अभिन्न संगम चेतन चेतना रे, सहजानन्द घन सार। कहो०।

२—श्री अजितनाथ जिन चैत्यवन्दन—श्री सहजानन्द कृत

अजित रिपुगण जीतवा, वंदुं नाथ अजित।
विलोकुं मुक्त पथ प्रभु, यूथ भ्रष्ट मृगरीत ॥१॥
अन्ध परम्पर धर्म-दृग्, आगम तर्क विचार।
तजी भाव योगी भजत, प्रगट बोध निरधार ॥२॥
अनुभवी सन्त-तीर्थमां, ध्येये भेद न कोय।
सत्पुरुषें सेवतां, सहजानन्द घन होय ॥३॥

२—श्री अजित जिन स्तवन (?)—श्री आनन्दघन (आसावरी)

पन्थडो निहालुंरे बीजा जिनत-
धाम ॥ जे तें जीत्यारे तेणे हुँ जीति-
॥पन्थ०१॥ चर्मनयण करी मारग - ...
जेणेनयणे करी मारग जोइये रे, नयण
पुरुष परम्पर अनुभव जोवतां रे,
विचारेरे जो आगमेंकरी रे, चरण

तर्क विचारे रे वाद परंपरा रे, पार न पहुँचे कोय।
अभिमते वस्तु रे, वस्तुगते कहे रे, ते विरला जग जोय ॥पंथ॥४॥
वस्तु विचारे रे, दिव्य नयणतणो रे, विरह पड्यो निरधार ॥
तरतम जोगे रे तरतम वासना रे, वासित बोध आधार ।पंथ० ५।
काललब्धि लही पंथ निहालशुं रे, ए आशा अवलंब ॥ एजन जीवे
रे जिनजी जाणजोरे, आनन्दघन मत अंब ॥ पंथ० ६ ॥

२—श्री अजित जिन स्तवन (२)—श्री देवचन्द्रकृत

ज्ञानादिक गुण संपदा रे। तुझ अनन्त अपार ॥ ते सांभलता
उपनीरे। रुचि तेणें पार उतार ॥ अजित जिन तारजोरे। तारजो
दीनदयाल-अजितजिन तारजोरे ॥ १ ॥ जे जे कारण जेहनुं रे।
सामग्री संयोग। मिलतां कारज निपजेरे ! करता तणे प्रयोग ॥
अजित० २ ॥ कार्य सिद्धि करता वसुरे। लहि कारण संयोग।
निज पद कारक प्रभु मिल्यारे। होय निमित्तह भोग। अजित० ३
अज कुलगत केसरी लहेरे। निज पद सिंह निहाल ॥ तिम प्रभु
भक्ते भवि लहेरे। आतम शक्ति संभाल ॥ अजित ४ ॥ कारण
पद कर्तापणेरे। करी आरोप अभेद ॥ निजपद अर्थी प्रभु थकीरे
करे अनेक उमेद ॥ अजित ॥ ५ ॥ एहवा परमातम प्रभुरे। पर-
मानन्द स्वरूप ॥ स्याद्वाद सत्ता रसीरे। अमल अखण्ड अनूप ॥
अजित० ६ ॥ आरोपित सुख भ्रम टल्योरे। भास्यो अव्याबाध ॥
समर्यु अभिलासी पणुंरे। कर्त्ता साधन साध्य ॥ अजित० ७
ग्राहकता स्वामित्वतारे। व्यापक भोक्ता भाव ॥ कारणता कारज
दशारे। सकल ग्रह्युं निज भाव ॥ अ० ८। श्रद्धा भासन रमण-

तारे। दानादिक परिणाम ॥ सफल थया सत्ता रसीरे। जिनवर दरिशण पाम ॥ अजित० ६॥ तेणे निर्यामक माहणोरे। वैद्य गोप आधार ॥ देवचन्द्र सुख सागरूरे भाव धर्म दातार ॥अ० ८॥

३—श्री संभवनाथ जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानन्द कृत

स्वस्वरूप प्रगटाववा, सेवुं संभवदेव,
सतत् रोमांचित थिर मने, सत्पुरुषारथ टेव ॥१॥
सदा सुसंनाधीन करी, कार्य देह मन वाक,
सेवन थी सहजे सधे, भवथितिनो परिपाक ॥२॥
ध्येये ध्यान एकत्वता, अवर आश निराश,
असंभव सवी संभवे, सहजानन्द घन वास ॥३॥

३—श्री संभव जिन स्तवन (१) श्री आनन्दघनकृत (राग रामग्री)

संभवदेव ते धुर सेवोसवे रे, लहि प्रभुसेवन भेद ॥ सेवनकारण पहेली भूमिका रे, अभय अद्वेष अखेद ॥ संभ० ॥१॥ भय चंचलता हो जे परिणामनी रे, द्वेष अरोचक भाव ॥ खेद प्रवृत्ति हो करतां थाकिये रे, दोष अबोध लखाव। संभ०॥२॥ चरमावर्त्त हो चरमकरण तथा रे, भवपरिणति परिपाक ॥ दोष टले वली दृष्टि खुले भली रे, प्राप्ति प्रवचनवाक्॥सं०॥३॥ परिचय पातक घातक साधुशुं रे, अकुशल अपचय चेत ॥ ग्रंथ अध्यातम श्रवण मनन करी रे, परिशीलन नय हेत ॥ सं० [illegible]
नीपजे रे, एमां कोइ न वाद ॥ पण [illegible]
रे, ए निजमत उन्माद ॥ सं० ॥ [illegible]
आदरे रे, सेवन अगम अनूप ॥ - [illegible]
रे, आनंदघन रसरूप ॥सं० ॥६॥

३—श्री संभव जिन स्तवन (२)—श्री देवचन्द्रकृत (धणरा ढोला)

श्री संभव जिनराजजीरे। ताहरुं अकल स्वरूप ॥ जिनवर पूजो॥ स्वपर प्रकाशक दिनमणीरे। समता रसनो भूप ॥जि०१॥ पूजो पूजोरे भविक जन पूजो। हांरे प्रभु पूज्यां परमानन्द ॥ जि०॥टेक॥ अविसंवाद निमित्त छोरे। जगत जंतु सुखकाज ॥जि०॥ हेतु सत्य बहु मानथीरे। जिन सेव्यां शिवराज ॥ जि० २ ॥ उपादान आतम सहीरे। पुष्टालंबन देव। जि० ॥ उपादान कारणपणेरे। प्रगट करे प्रभु सेव ॥ जि० ३ ॥ कार्य गुण कारण पणेरे। कारण कार्य अनूप ॥ जि० ॥ सकल सिद्धता ताहरीरे। माहरे साधन रूप ॥ जि० ४ ॥ एकवार प्रभु वंदनारे। आगम रीते थाय ॥ जि० ॥ कारण सत्ये कार्यनीरे। सिद्धि प्रतीत कराय ॥ जि० ५ ॥ प्रभु पणे प्रभु ओलखीरे। अमल विमल गुण गेह ॥ जि० ॥ साध्य दृष्टि साधकपणेरे। वंदे धन्य नर तेह ॥ जि० ६ ॥ जन्म कृतारथ तेहनोरे। दिवस सफल पण तास ॥ जि० ॥ जगत शरण जिन चरणनेरे। वंदे धरिय उल्लास जि० ॥७॥ निज सत्ता निज भावथीरे। गुण अनंतनो ठाण ॥ जि० ॥ देवचन्द्र जिनराजजीरे। शुद्ध सिद्ध सुख खाण ॥जि० ८॥

४—श्री अभिनन्दन जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानन्द कृत

लहुं केम स्याद्वादमय, अनेकान्त शिव शर्म,
स्वानुभूति कारण परम, अभिनन्दन तुज धर्म ॥ १ ॥
नय-आगम-मत-हेतु, विखवाद थकी नवि गम्य,
अनुभव संत-हृदय वसे, तास सुवास सुगम्य ॥ २ ॥

मारे। दानादिक परिणाम ॥ सकल थया सत्ता रसीरे। जिनवर दरिशण पाम ॥ अजित० ६॥ तेणे निर्यामक माहणोरे। वैद्य गोप आधार ॥ देवचन्द्र सुख सागरुरे भाव धर्म दातार ॥अ० १०॥

३—श्री संभवनाथ जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानन्द कृत

स्वस्वरूप प्रगटाववा, सेवुं संभवदेव,
सतन् रोमांचित थिर मने, सत्पुरुषारथ देव ॥१॥
सदा सुसंताधीन करी, कार्य देह मन वाक,
सेवन थी सहजे सधे, भवथितिनो परिपाक ॥२॥
ध्येये ध्यान एकत्वता, अवर आश निराश,
असंभव सघी संभवे, सहजानन्द घन वास ॥३॥

३—श्री संभव जिन स्तवन (?) श्री आनन्दघनकृत (राग रामग्री)

संभवदेव ते धुर सेवोसवे रे, लहि प्रभुसेवन भेद ॥ सेवनकारण पहेली भूमिका रे, अभय अद्वेष अखेद ॥ संभ० ॥१॥ भय चंचलता हो जे परिणामनी रे, द्वेष अरोचक भाव ॥ खेद प्रवृत्ति हो करतां थाकिये रे, दोष अबोध लखाव। संभ०॥२॥ चरमावर्त्त हो चरमकरण तथा रे, भवपरिणति परिपाक ॥ दोष टले वली दृष्टि खुले भली रे, प्राप्ति प्रवचनवाक् ॥सं०॥३॥ परिचय पातक घातक साधुशुं रे, अकुशल अपचय चेत ॥ ग्रंथ अध्यातम श्रवण मनन करी रे, परिशीलन नय हेत ॥ सं० ॥४॥ कारणजोगेहो कारज नीपजे रे, एमां कोइ न वाद ॥ पण कारणविण कारज साधिये रे, ए निजमत उन्माद ॥ सं० ॥५॥ मुग्ध सुगमकरी सेवन आदरे रे, सेवन अगम अनूप ॥ देजो कदाचित् सेवक याचना रे, आनंदघन रसरूप ॥सं० ॥६॥

श्री सुमति जिन स्तवन—श्री आनन्दघन (वसंत या केदारो)

... अविकार।

... सुविचार।

...नी सु० ॥१॥ त्रिविध सकल तनुधर-गत आतमा, वहिरातम ...भेद। सुग्यानी। बीजो अन्तर आतम तीसरो, परमातम ...विच्छेद सुग्यानी। सु०॥२॥ आतमबुद्धेहो कायादिक ग्रह्यो, वहि- ...म अवरूप। सुग्यानी। कायादिक नो ही साखीधर रह्यो, ...तर आतम रूप। सुग्यानी॥सु०॥३॥ ज्ञानानंदेहो पूरण पावनो, ...जित सकल उपाधि। सुग्यानी। अतींद्रिय गुण गण मणि आगरू, परमातम साध। सुग्यानि॥सु०॥४॥ वहिरातम तजी अन्तरआ- ...मा रूप थई थिर भाव। सुग्यानी। परमातम नु हो आतम ...वबुं, आतम अरपण दाव। सुग्यानी॥सु०॥५॥ आतम अरपण ...नु विचारतां, भरम टले मतिदोष। सुग्यानी। परम पदारथ ...पत्ति संपजे, आनन्दघन रस पोष। सुग्यानी॥सु०॥६॥

(६) श्री पद्मप्रभु जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानन्द कृत

...साए सम ते छतां, तुज मुज अन्तर केम ?

अहो! पद्मप्रभू कहो, सहजे समसुं तेम ॥१॥

...व्यतिरेक कारण ग्रही, हूं भूल्यो निज भान,

अन्वय कारण सेवतां, प्रगटे सहज निधान ॥२॥

अन्वय हेतु ज्यां प्रगट, ते संताधीन सेव,

अनहद ज्योति झलहले, सहजानन्दघन देव ॥३॥

असंत निशा भ्रान्तिदा, टाली सकल स्वछंद,

संत कृपाए पामीए, सहजानन्द घन कंद ॥ ३

४—श्री अभिनन्दन जिन स्तवन—श्री आनन्दघन कृत (धन्याश्री)

अभिनन्दन जिन दरशण तरसिये, दरशण दुर्लभ देव।
मतमत भेदे रे जो जइ पूछिये, सहु थापे अहमेव ॥ अभि० ॥१॥
सामान्ये करी दरशन दोहिलूं, निर्णय सकल विशेष ॥ मदमें
घेर्यों रे अंधो किम करे, रविशशि रूपविलेख ॥ अ० ॥ २ ॥
हेतु विवादेहो चित्तधरि जोइये, अतिदुरगम नयवाद ॥ आगम-
वादेहो गुरुगम को नहीं, ए सबलो विषवाद ॥ अ० ॥ ३ ॥
घाती डुंगर आडा अतिघणा, तुज दरशण जगनाथ ॥ धीठाई
करी मारग संचरूं, सेंगू कोई न साथ ॥ अभि० ॥ ४ ॥
दरशण दरशण रटतो जो फिरूं, तो रणरोझ समान ॥
जेहने पिपासा हो अमृतपानकी, किम भांजे विषपान ॥ अभि ॥५॥
तरस न आवेहो मरणजीवन तणो, सीझे जो दरशण काज ॥
दरशण दुर्लभ सुलभ कृपाथकी, आनन्दघन महाराज अभि० ॥६॥

(५) *श्री सुमतिनाथ जिन चैत्यवन्दन—श्री सहजानन्द कृत*

आतम अर्पणता करूं, सुमति चरण अविकार।

कायादिक गुरु अर्पणा, धर्म मूढ़ता धार ॥१॥

इन्द्रिय नोइन्द्रिय थकी, पर उपयोग प्रचार,

प्रत्याहारी स्थिर करो, संत स्वरूप विचार ॥२॥

आत्मार्पण सदुपायए, सहजानन्द घन पद,

सहज आत्म स्वरूप जे, परम गुरुए प्रत्यक्ष ॥३॥

सुधारस जलनिधि, भवसागरमां सेतु। ललना। श्रीसुपा० ॥१॥ त्रण महाभय टालतो, सप्तम जिनवरदेव। ललना॥ सावधान मनसा करी, धारो जिनपद सेव ललना। श्रीसुपा०॥२॥ शिव शंकर जगदीश्वरू, चिदानन्द भगवान। ललना॥ जिन अरिहा तीर्थंकरू, ज्योतिस्वरूप असमान। ललना। श्री सुपा० ॥ ३ ॥ अलख निरंजन वच्छलू, सकलजंतु विसराम। ललना॥ अभयदान दाता सदा, पूरण आतमराम। ललना। श्रीसुपा० ॥४॥ वीतराग मद कल्पना, रतिअरति भयसोग। ललना॥ निद्रातंद्रा दुरंदसा, रहित अबाधितयोग ललना। श्रीसुपा०॥५॥ परमपुरुष परमातमा, परमेसवर. परधान। ललना॥ परमपदारथ परमेष्ठि, परमदेव परमान। ललना। श्रीसुपा० ॥ ६ ॥ विधि विरंचि विश्वंभरू, हृषिकेश जगनाथ। ललना॥ अघहर अघमोचन धणी। मुक्ति-परमपदसाथ। ललना। श्रीसुपा० ॥७॥ एम अनेकअभिधा धरे अनुभवगम्य विचार। ललना॥ जेह जाणे तेहने करे, आनन्दघन अवतार। ललना श्रीसुपा० ॥८॥

(८) श्री चन्द्रप्रभ जिन चैत्यवन्दन—श्री सहजानन्द कृत

सुण अलि! शुद्ध चेतने! चन्द्रवदन जिनचन्द,
सुं सेवे सर्वांगना, निशदिन सौख्य अमंद ॥१॥
काल अनादिय मूढ़मति, पर परिणति रति लीन,
संत प्रभूनी सेवना, न लही सुदृष्टि हीन ॥२॥
सखि! कृपाकर प्रभू तणा, मांगु दर्शन आज,
योगावंचक करणीये, सहजानन्दघन राज ॥३॥

(६) *श्री पद्मप्रभु जिन स्तवन—श्री आनन्दघन (राग-सिंधु)*

पद्मप्रभजिन तुज मुज आंतरुं रे, किम भांजे भगवंत ॥ कर्मविपाके कारण जोइने रे, कोइ कहे मतिमंत ॥ पद्म० ॥१॥ पयठिइ अणुभाग प्रदेशथी रे, मूल उत्तर बहु भेद ॥ घाती अघाती बंधुदय उदिरणा रे, सत्ता करमविच्छेद ॥ पद्म० ॥२॥ कनकोपलवत् पयडि पुरुपतणीरे, जोडी अनादिस्वभाव । अन्यसंजोगी जिहांलगे आतमारे, संसारी कहेवाय । पद्म० ॥३॥ कारणजोगेहो बांधे बंधने रे, कारण मुगति मुकाय ॥ आश्रव संवर नाम अनुक्रमे रे, हेयोपादेय सुणाय ॥ पद्म० ॥४॥ मुंजनकरणे अन्तर तुझ पड्यो रे, गुणकरणे करी भंग ॥ ग्रन्थउक्तेकरी पंडितजन कह्यो रे अंतरभंग सुअंग ॥५॥ तुजमुज अंतर अंतर भांजसे रे, वाजसे मंगल तूर ॥ जीवसरोवर अतिशय वाधसे रे, आनंदघन रस पूर ॥ पद्म० ॥६॥

(७) *श्री सुपार्श्व जिन चैत्यवन्दन—श्री सहजानन्द कृत*

सहज सुखीनी सेवना, अवर सेव दुःख हेत,
घननामी सत्ता अहो ! सुपारस प्रभु संकेत ॥१॥
पारस मणीना फरसथी, लोहाकंचन होय,
पण पारसता नविलहे, तीनू काले जोय ॥२॥
सुपारस प्रभू सेवथी, सेवक आप समान,
अनुभव गम्य करी लहो, सहजानन्द घन स्थान ॥३॥

(७) *श्री सुपार्श्व जिन स्तवन—श्री आनन्दघन (सारंग)*

श्री सुपासजिन वंदिये, सुख संपत्तिने हेतु । ललना ॥१

न भ्रम भेद विरलेजी ॥ श्री० ३॥ व्यवहारे बहु मान ज्ञान निज चरणे जिन गुण रमणाजी ॥ प्रभु गुण आलंबी परिणामे । ऋजु पद ध्यान स्मरणाजी ॥श्री० ४॥ शब्दे शुक्ल ध्यानारोहण । समभिरूढ गुण दशमेजी ॥ बीय शुक्ल अविकल्प एकत्वे । एवंभूत ते अममेजी ॥ श्री० ५ ॥ उत्सर्गे समकित गुण प्रगट्यो । नैगम प्रभुता अंशेजी ॥ संग्रह आतम सत्तालंबी । मुनि पद भाव प्रशंसेजी ॥ श्री० ६ ॥ ऋजुसूत्रे जे श्रेणि पदस्थे । आतम शक्ति प्रकाशेजी ॥ यथाख्यात पद शब्द स्वरूपे । शुद्ध धर्म उल्लासेजी ॥ श्री० ७ ॥ भाव सयोगी अयोगी शैलेसी । अंतिम दुगनय जाणोजी ॥ साधनताए निजगुण व्यक्ति । तेह सेवना वखाणोजी ॥ श्री० ८॥ कारण भाव तेह अपवादे । कार्यरूप उत्सर्गेजी ॥ आत्म भाव ते भाव द्रव्य पद । बाह्य प्रवृत्ति निसर्गेजी ॥ श्री० ९॥ कारण भाव परम्पर सेवन । प्रगटे कारज भावेजी ॥ कारज सिद्धे कारणता व्यय । शुचि पारिणामिक भावेजी ॥ श्री० १०॥ परमगुणी सेवन तन्मयता । निश्चय ध्याने ध्यावेजी ॥ शुद्धातम अनुभव आस्वादि ।

(८) *श्रीचन्द्रप्रभ जिन स्तवन (१)—श्रीआनन्दघन (केदारो)*

देखणदेरे सखी मुने देखणदे। चन्द्रप्रभ मुख चन्द। सखी०। उपशम रसनो कंद। सखी०। गत कलिमल दुखदंद। सखी०॥१॥ सुहुमनिगोदे न देखिओ। स०। बादर अतिहि विशेष। स० पुढवी आउ न लेखियो। स०। तेउ वाउ न लेश। स०। चं० ॥२॥ वनस्पति अतिघणदिहा। स०। दीठो नहीय दीदार। स०। बि ति चउरिंदी जललिहा। स०। गतिसन्नी पण धार। स०। चं० ॥३॥ सुरितिरि निरयनिवासमां स०। मनुज अनारज साथ। स०। अपज्जता प्रतिभासमां। स०। चतुर न चढीओ हाथ। स०। चं०॥४॥ एम अनेक थल जाणिये। स०। दरशण विण जिनदेव। स०। आगमथी मन जाणिये। स०। कीजे निरमल सेव। स०। चं० ॥५॥ निरमल साधु भक्ति लही। स०। योग अवंचक होय। स०। किरिया अवंचक तिम सही स०। फल अवंचक जोय स० चं० ॥६॥ प्रेरक अवसर जिनवरु। स०। मोहनीय क्षय जाय। स०। कामित पूरण सुरतरु। स०। आनंदघन प्रभु पाय स०। चं० ॥७॥

(८) *श्री चन्द्रप्रभ जिन स्तवन (२)—श्री देवचन्द्र कृत*

श्री चन्द्रप्रभ जिन पद सेवा। हेवाये जे हलियाजी॥ आतमगुण अनुभवथी मलिया। ते भव भयथी टलियाजी ॥श्री० १॥ द्रव्य सेव वंदन नमनादिक। अर्चन वलि गुण ग्रामोजी॥ भाव अभेद थवानी इहा। पर भावे निःकामोजी॥ श्री० २॥ भाव सेव अपवादे नैगम। प्रभु गुणने संकल्पेजी॥ संग्रह सत्ता तुल्या-

रोरे। भेदा भेद विकल्पेजी ॥श्री० ३॥ व्यवहारे बहु मान ज्ञान निज। चरणे जिन गुण रमणाजी ॥ प्रभु गुण आलंबी परिणामे। ऋजु पद ध्यान स्मरणाजी ॥श्री० ४॥ शब्दे शुक्ल ध्यानारोहण। समभिरूट गुण दशमेजी ॥ बीय शुक्ल अविकल्प एकत्वे। एवंभूत ते अममेजी ॥ श्री० ५॥ उत्सर्गे समकित गुण प्रगट्यो। नैगम प्रभुता अंशेजी॥ संग्रह आतम सत्तालंबी। मुनि पद भाव प्रशंसेजी ॥ श्री० ६॥ ऋजुसूत्रे जे श्रेणि पदस्थे। आतम शक्ति प्रकासेजी ॥ यथाख्यात पद शब्द स्वरूपे। शुद्ध धर्म उल्लासेजी ॥ श्री० ७॥ भाव सयोगी अयोगी शैलेमी। अंतिम दुगनय जाणोजी ॥ साधनताए निजगुण व्यक्ति। तेह सेवना वखाणोजी श्री० ८॥ कारण भाव तेह अपवादे। कार्यरूप उत्सर्गेजी ॥ आत्म भाव ते भाव द्रव्य पद। बाह्य प्रवृत्ति निःसर्गेजी ॥ श्री० ९॥ कारण भाव परम्पर सेवन। प्रगटे कारज भावोजी ॥ कारज सिद्धे कारणता व्यय। शुचि परिणामिक भावोजी ॥ श्री० १०॥ परमगुणी सेवन तन्मयता। निश्चय ध्याने ध्यावेजी ॥ शुद्धातम अनुभव आस्वादि। देवचन्द्र पद पावेजी॥ श्री० ११॥

९—श्री सुविधि जिन चैत्यवन्दन—श्री सहजानन्द कृत।

उभये शुचि भावे भजी, पूजन सुविधि जिनेश,
प्रसन्न चित्त आणा सहित, स्वस्वरूप प्रवेश ।१।
अंग अग्र ए निमित्त छे, उपादान छे भाव,
प्रतिपत्ति पूजा तिहाँ, प्रगटे शुद्ध स्वभाव ।२।
शुद्ध स्वभावी संतनी, सेव थकी लही मर्म,
स्वरूप सेवन थी लहो, सहजानन्द घन धर्म ।३।

९—श्री सुविधि जिन स्तवन—श्री आनन्दघन (केदारो)

सुविधि जिनेसर पाय नमीने, शुभकरणी एम कीजेरे॥ अतिघणो ऊलट अंग धरीने, प्रह उठी पूजीजे रे॥ सुवि० ॥ १॥ द्रव्य भावशुचि भाव धरीने, हरखे देहरे जइये रे॥ दह तिग पण अहिगम साचवता, एकमना धुरि थइये रे॥ सु० ॥ २॥ कुसुम अक्षतवर वास सुगंधी, धूप दीप मनसाखीरे॥ अंग पूजा पणभेद सुणी एम, गुरुमुख आगम भाखीरे॥ सु० ॥३॥ एह नुं फल दोय भेद सुणीजे, अनन्तरने परंपररे॥ आणापालण चित्तप्रसन्नी, मुगति सुगति सुरमंदिररे॥सु० ॥४॥ फूल अक्षत वर धूप पइवो, गंध नैवेद्य फल जल भरीरे॥ अंग अग्र पूजा मिली अडविध, भावे भविक शुभगति वरीरे॥ सु० ॥ ५॥ सत्तर भेद एकवीस प्रकारे, अष्टोत्तरशत भेदेरे॥ भाव पूजा बहुविध निरधारी, दोहग दुरगति छेदेरे॥सु० ॥६॥ तुरियभेद पडिवत्ती पूजा, उपशम खीण सयोगीरे॥ चउहा पूजा इम उत्तरझयणे, भाखी केवल भोगीरे॥ सु० ॥ ७॥ इम पूजा बहुभेद सुणीने, सुखदायक शुभकरणीरे। भविकजीव करसे ते लेसे, आनन्दघनपद धरणीरे॥८॥

१०—श्री शीतल जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानन्द कृत

भासे विरोधाभास पण, अविरोधी गुणवृन्द,
शीतल हृदये ध्यावतां, प्रगटे परमानन्द ।१।
स्वरूप रक्षण कारणे, कोमल तीक्ष्ण भाव,
उदासीन पर द्रव्य थी, रहीये तेज स्वभाव ।२।
शुद्ध स्वरूपा भासना, अनन्य कारण संत,
सहजानन्द घन प्रभु भजी, करो भवोदधि अंत ।३।

१०—श्री शीतल जिन स्तवन—श्री आनन्दघन (धन्यासरीगोडी)

शीतलजिनपति ललितत्रिभंगी, विविधभंगी मनमोहेरे ॥ करुणा कोमलता तीक्ष्णता, उदासीनता सोहेरे ॥ शी० ॥१॥ सर्व जंतु हितकरणी करुणा, कर्मविदारण तीक्ष्णरे ॥ हानादान रहित परिणामी, उदासीनता वीक्षणरे ॥शी० ॥२॥ परदुखछेदन इच्छा करुणा, तीक्षण परदुख रीझेरे ॥ उदासीनता उभय विलक्षण, एकठामें केम सीझेरे ॥ शी० ॥३॥ अभयदान ते मलक्षय करुणा, तीक्ष्णता गुण भावेरे ॥ प्रेरणविणुकृत उदासीनता, इम विरोध-मति नावेरे ॥शी० ॥४॥ शक्ति व्यक्ति त्रिभुवनप्रभुता, निर्ग्रंथता संयोगेरे ॥ योगी भोगी वक्ता मौनी, अनुपयोगि उपयोगेरे ॥ शी० ॥ ५ ॥ इत्यादिक बहुभंग त्रिभंगी, चमत्कार चित्तदेतीरे ॥ अचरिजकारी चित्रविचित्रा, आनन्दघन पद लेतीरे ॥शी० ॥६॥

११—श्री श्रेयांस जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानंद कृत

भाव अध्यातम पथमयी, श्रेयांस सेवाधार,
हठयोगादि परिहरी, सहज भक्तिपथ सार ।१।
देह आतम किरिया उभय, भिन्न म्यान असि जेम,
जड़ किरिया कर्तृत्व तज, भज निज किरिया प्रेम ।२।
ज्ञानादि गुणवृन्द पिंड, 'सोहं' अजपा जाप,
संत कृपा थी पामीये, सहजानन्दघन आप ।३।

११—श्री श्रेयांस जिन स्तवन—श्री आनंदघन (गोड़ी)

श्रीश्रेयांसजिन अंतरजामी, आतमरामी नामीरे ॥ अध्यातम-मत पूरणपामी, सहज मुगतिगतिगामीरे ॥ श्रीश्रे० ॥ १॥ सयल-

संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगुण आतमरामीरे, मुख्य पणे जे आतमरामी, ते केवल निःकामीरे ॥ श्रीश्रे० ॥ २॥ निजस्वरूप जे किरियासाधे, तेह अध्यातम लहियेरे ॥ जे किरियाकरि चउगतिसाधे, ते न अध्यातम कहियेरे ॥श्रीश्रे० ॥३॥ नाम अध्यातम ठवणअध्यातम, द्रव्य अध्यातम छंडोरे ॥ भाव अध्यातम निजगुणसाधे, तो तेहसुं रढ मंडोरे ॥ श्रीश्रे० ॥ ४ ॥ शब्दअध्यातम अरथसुणीने, निरविकल्प आदरजोरे ॥ शब्द अध्यातम भजनाजाणी, हानग्रहण मति धरजोरे ॥ श्रीश्रे० ॥५॥ अध्यातम जे वस्तुविचारी, बीजा जाण लबासीरे ॥ वस्तुगते जे वस्तुप्रकासे, आनन्दघन मतवासीरे ॥६॥ श्री श्रे०॥

१२—श्री वासुपूज्य जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानंद कृत

वासुपूज्य जिन सेवना, ज्ञान करमफल काज,
करम करमफल नासिनी, सेवो भवोदधि पाज ।१।
निज पर शुद्धि कारणे, भविष भेद विज्ञान,
निज-निज परिणति परिणमे, प्रगटे केवल ज्ञान ।२।
स्वरूपाचरणी श्रमण ते, द्रव्यलिंग नहीं काम,
भेद ज्ञान पुरुषार्थ थी, सहजानन्द घन ठाम ।३।

१२—श्री वासुपूज्य जिन स्तवन—श्री आनंदघन (गोड़ी)

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी, घननामी परनामीरे ॥ निराकार साकार सचेतन, करम करमफल कामीरे ॥वासु० ॥१॥ निराकार अभेद संग्राहक, भेदग्राहक साकारोरे ॥ दर्शनज्ञान दुभेद चेतना, वस्तुग्रहण व्यापारोरे ॥ वासु० ॥२॥

कर्त्ता परिणामि परिणामो, कर्म जे जीवे करियेरे। एक अनेकरूप नयवादे, नियते नर अनुसरियेरे ॥ वासु० ॥ ३ ॥ दुखसुखरूप करमफल जाणो, निश्चय एक आनंदोरे ॥ चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचंदोरे ॥ वासु० ॥४॥ परिणामी चेतन परिणामो, ज्ञान करमफल भावीरे ॥ ज्ञान करमफल चेतन कहिये, लेजो तेह मनावीरे ॥ वासु० ॥ ५ ॥ आतमज्ञानी श्रमण कहावे, बीजा तो द्रव्यलिंगीरे ॥ वस्तुगते जे वस्तु प्रकासे, आनंद-घन मति संगीरे ॥ वासु० ॥ ६ ॥

११—श्री विमल जिन चैत्यवन्दन—श्री सहजानन्द कृत

जगमग ज्योति विमल प्रभू, चढ़ी अलोके आज,
हृदय नयण निरख्या अहो ! भांग्यो विरह समाज । १ ।
दिव्य ध्वनि अनहद सुणी, अति नाचत मन मोर,
सुधा-वृष्टि पाने छपयो, करत पपैयो शोर । २ ।
उछलत सुख सायर सरल,[१] तरंग लीन थयो मीन,
संत कृपा सहेजे सध्यो, सहजानन्द घन पीन[३] । ३ ।

१२—श्रीविमल जिन स्तवन—श्री आनन्दघन (मल्हार)

दुख दोहग दूरे टल्यारे, सुखसंपदसुं भेट। धींगधणी माथे कियोरे, कुण गंजे नरखेट। विमलजिन, दीठा लोयण आज। मारा सिध्या वंछितकाज। विमलजिन, दीठा० ॥१॥ चरणकमल कमला वसेरे, निरमल थिरपद देख॥ समल अथिरपद परिहरीरे, पंकज पामर पेख। वि। दी। २ ॥ मुजमन तुजपद

१—आला। २—चंचल। ३—पुष्ट।

पंखडीरे, लीनो गुंणमकरंद ॥ रंकगणे मंदरधरारे, इंद चंद्र नागिंद ।वि० । दी० ॥ ३ ॥ साहिब समरथ तुं धणीरे, पाम्यो परम उदार ॥ मन विसरामी वाल्होरे, आतमचो आधार । वि० । दी० ॥ ४ ॥ दरशणदीठे जिनतणोरे, संशय न रहे वेध ॥ दिनकर करभर पसरंतारे, अन्धकार प्रतिषेध । वि० । दी० ॥५॥ अमीय-भरी मूरति रचीरे, उपमा न घटे कोय ॥ शांतसुधारस झीलतीरे, निरखत तृपति न होय । वि० । दी० ॥ ६ ॥ एक अरज सेवक-तणीरे, अवधारो जिनदेव ॥ कृपाकरी मुझ दीजीयेरे, आनन्द-घन पद सेव । वि० । दी० ॥७॥

१४—श्री अनंत जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानन्द कृत

अनंत जिणंद पद सेवना, अलख अगम अनूप,
शक्र चक्री पण ना लहे, जे अनेकान्त स्वरूप । १ ।
मन मठधारी लिंगिया, तप जप खप एकांत,
गच्छधर जैनातीत सब, परसंगी चित्त भ्रान्त । २ ।
अलख अधीन छे संतने, तास सेव धरी नेह,
अनेकान्त अेकान्तथी, सहजानन्द घन रेह । ३ ।

१४—श्री अनंतनाथ जिन स्तवन—श्री आनन्दघनकृत

धार तरवारनी सोहली दोहिली, चउदमा जिनतणी चरण सेवा ॥ धारपर नाचता देख बाजीगरा, सेवना धारपर रहे न देवा ।धा० १। एककहे सेविये विविध किरियाकरि, फल अनेकांत लोचन न देखे । फल अनेकान्त किरियाकरी बापडा, रडवडे चारगतिमांहि लेखे ।धा० २। गच्छना भेदबहु नयण निहालतां

... करतां न लाजे ॥ उदर-भरणादि निजकाजकरतां थकां, मोह नडिया कलिकालराजे ।धा० ३। वचननिरपेक्ष व्यवहार जूठो कह्यो, वचनसापेक्ष व्यवहार साचो ॥ वचननिरपेक्ष व्यवहार संसारफल, सांभली आदरी कांइ राचो ।धा० ४। देवगुरुधर्मनी शुद्धि कहो किम रहे, किम रहे शुद्धश्रद्धान आणो ॥ शुद्धश्रद्धान विण सर्वकिरियाकरि, छारपर लीपणो तेह जाणो ।धा० ५। पापनही कोई उत्सूत्र भाषणजिसो, धर्म नहीं कोई जग सूत्रसरिखो ॥ सूत्रअनुसार जे भविक किरियाकरे, तेहनो शुद्ध चारित्र परखो ।धा०. ६। एह उपदेशनो सार संक्षेपथी, जे नरा चित्तमें नित्य ध्यावे ॥ ते नरा दिव्य बहुकाळ सुख अनुभवी, नियत आनंदघनराज पावे ॥धा० ७॥

१५—श्री धर्मनाथ जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानंद कृत

धर्म मर्म जिन धर्मनो, विशुद्ध द्रव्य स्वभाव,
स्वानुभूति विण साधना, सकल अशुद्ध विभाव ॥१॥
तप जप संयम व्रत थकी, कोटी वरसो जाय,
ज्ञानांजन अंजित नयन, विण नवि ते परखाय ॥२॥
दिव्य नयण धर संतनी, कृपा लहे जो कोय,
तो सहेजे कारज सधे, सहजानन्द घन सोय ॥३॥

१५—श्री धर्म जिन स्तवन—श्री आनंदघन (गोड़ी सारंग)

धरमजिनेसर गाउं रंगसुं, भंग म पड़सी हो प्रीत ।जिनेसर।
बीजो मनमंदिर आणुं नहीं, ए अम कुलवट रीत । जि० धर्म १।
धरमधरमकरतो जग सहु फिरे, धरम न जाणे हो मर्म । जि० ।

पंकजेरे, लीनो गुणमकरंद ॥ रंकगणे मंदरधरारे, इंद चंद नागिंद । वि० । दी० ॥ ३ ॥ साहिब समरथ तुं धणीरे, पाम्यो परम उदार ॥ मन विसरामी वालहोरे, आतमचो आधार । वि० । दी० ॥ ४ ॥ दरशणदीठे जिनतणोरे, संशय न रहे वेध ॥ दिनकर करभर पसरंतारे, अन्धकार प्रतिषेध । वि० । दी० ॥५॥ अमीय-भरी मूरति रचीरे, उपमा न घटे कोय ॥ शांतसुधारस झीलतीरे, निरखत तृपति न होय । वि० । दी० ॥ ६ ॥ एक अरज सेवक-तणीरे, अवधारो जिनदेव ॥ कृपाकारी मुफ दीजीयेरे, आनन्द-घन पद सेव । वि० । दी० ॥७॥

१४—श्री अनंत जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानन्द कृत

अनंत जिणंद पद सेवना, अलख अगम अनूप,
शास्त्र चक्री पण ना लहे, जे अनेकान्त स्वरूप । १ ।
मत मठधारी लिंगिया, तप जप खप एकांत,
गच्छधर जैनातीत सब, परसंगी चित भ्रान्त । २ ।
अलख अधीन छे संतने, तास सेव धरी नेह,
अनेकान्त एकान्तथी, सहजानन्द घन देह । ३ ।

१४—श्री अनंतनाथ जिन स्तवन—श्री आनन्दघनकृत

धार तरवारनी सोहली दोहिली, चउदमा जिनतणी चरण सेवा ॥ धारपर नाचता देख बाजीगरा, सेवना धारपर रहे न देवा ।धा० १। एककहे सेविये विविध किरियाकरि, फल अनेकांत लोचन न देखे । फल अनेकान्त किरियाकरी बापडा, रडवडे चारगतिमांहि लेखे ।धा० २। गच्छना भेदबहु नयण ...

...इम जाणिये, कहो मन किम परखायरे। शांति०।१। धन्य तुं आतम जेहने, एहवो प्रश्न अवकाश रे। धीरज मन धरी सांभलो, कहुँ शांति प्रतिभासरे। शांति० ।२। भाव अविशुद्ध सुविशुद्ध जे, कह्या श्रीजिनवर देवरे। ते तेम अवितत्थ सद्दहे प्रथम ए शांतिपद सेवरे। शांति०।३। आगमधर गुरु समकिती, किरिया संवर-सारे। सम्प्रदायी अवंचक सदा, सुची अनुभव आधारे। शांति०४। शुद्ध आलंबन आदरे, तजी अवर जंजालरे। तामसीवृत्ति सवि परिहरी, भजे सात्त्विकी सालरे। शांति० ५। फल विसंवाद जेमां नहीं, शब्द ते अर्थ सम्बन्धि रे। सकल नयवाद व्यापि रह्यो, ते शिव साधन संधिरे। शान्ति० ।६। विधि प्रतिषेध-करी आतमा, पदारथ अविरोध रे। ग्रहणविधि महाजने परि-ग्रह्यो, एहवो आगमे बोधरे। शान्ति० ।७। दुष्टजन संगति परि-हरी, भजे सुगुरुसंतान रे। जोगसामर्थ्य चित्तभाव जे, धरे मुगति निदान रे। शान्ति० ।८। मान अपमान चित्त समगणे, समगणे कनक पाषाण रे। वंदक निंदक समगणे एहवो होय तुं जाण रे। शान्ति० ।९। सर्व जगजंतुने समगणे, गणे तृणमणि भाव रे। मुक्ति-संसार बेहु समगणे, मुणेभवजलनिधि नाव रे। शान्ति० ।१०। आपणो आतमभावजे, एक चेतनाधार रे। अवर सविसाथ संयोगथी, एह निज परिकर सार रे। शान्ति० ।११। प्रभुमुखथी एम सांभली, कहे आतमराम रे। ताहरे दरसणे निस्तर्यो, मुज सिध्या सवी काम रे। शान्ति० ।१२। अहो-अहो हुं मुजने कहुँ, ...मुज नमो मुज रे। अमित फल दानदातारनी, जेहथी भेटथइ

धरमजिनेसरचरण ग्रह्यां पछी, कोइ न बांधे होकर्म । जि॰ धर्म
प्रवचन अंजन जो सद्गुरु करे, देखे परमनिधान । जि॰
हृदयनयण निहाले जगधणी, महिमा मेरुसमान । जि॰ धर्म॰
दोडतदोडत दोडत दोडीओ, जेती मननी रे दोड । जि॰
प्रेमप्रतीत विचारो ढूकडी, गुरुगम लेजोरे जोड जि॰ धर्म॰ ।
एकपखी केम प्रीति वरे पडे, उभय मिल्या होय संधि । जि॰ ।
रागी हुं मोहे फंदिओ, तुं निरागी निरबंध । जि॰ । धर्म॰
परमनिधान प्रगट मुखआगले, जगत उलंघी हो जाय । जि॰
ज्योतिविना जुओ जगदीशनी, अंधोअंध पुलाय । जि॰ धर्म॰ ।
निरमल गुणमणि रोहण भूधरा, मुनिजन मानसहंस । जि॰
धन्य ते नगरी धन्य वेला घडी, मातपिता कुलवंश । जि॰ ध॰
।७। मन मधुकर वर करजोडी कहे, पदकज निकट निवास । जि॰
घननामी आनन्दघन सांभलो, ए सेवक अरदास ।जि॰ ।धर्म॰

१८—श्री शान्तिनाथ जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानन्द कृत

सेवो शान्ति जिणंद भवि ! शान्त सुधारस धाम,
अवर रसे आधीन जे, तेथी सरे न काम ॥१॥
शान्त भाव विण ना लहे, शुद्धस्वरूपाभ्यास,
लवण महासागर जले, कदी न बुझे प्यास ॥२॥
तेथी शान्त स्वरूपनो, सतत करो अभ्यास,
सहजानन्दघन लहसे, संताश्रयणे वास ॥३॥

१९—श्रीशान्ति जिनस्तवन—श्री आनन्दघन (मल्हार)

शान्तिजिन एक मुज वीनती, सुणो त्रिभुवन राय रे ।

रे पण्डितजन समजावे, समजे न माहरो सालोही कुं० ॥६॥ मैं जाण्युं ए लिंग नपुंसक, सकल मरदने ठेले। बीजीवाते समरथ छे नर, एहने कोई न झेलेहो। कुं० ॥७॥ मनसाध्युं तेणे सघलुं साध्युं, एह वात नहीं खोटी। एम कहे साध्युं ते नविमानुं, एकही वातो मोटीहो। कुं० ॥८॥ मनडुं दुराराध्य तें वश आण्युं, ते आगमथी मतिआणुं। आनन्दघन प्रभु माहरुं आणो, तो साचुं करी जाणुंहो। कुं० ॥९॥

१८—श्री अरनाथ जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानंद कृत

उभयनय अभ्यासीने, द्रव्यदृष्टि धरी लक्ष,
सद्गुरु पर्यंय करी, अरनाथ धर्म प्रत्यक्ष ॥१॥
भेद दृष्टि व्यवहरण करी, थई अभेद निज द्रव्य,
निर्विकल्प उपयोगथी, परम धर्म लहो भव्य ॥२॥
परमधर्म छे ज्यां प्रगट, सद्गुरु संतनी सेव,
सहजानन्दघन पामवा, पुष्टालंबन देव ॥३॥

१८—श्री अरनाथ जिन स्तवन—श्री आनंदघन (राग परज)

धरम परम अरनाथनो, किम जाणुं भगवंतरे। स्वपरसमय समजावियें, महिमावंत महंत रे॥ ध०॥ १॥ शुद्धातम अनुभव सदा, स्वसमय एह विलासरे। परवडी छांहडी जेह पडे, ते पर समय निवासरे ॥ ध० ॥ २ ॥ तारा नक्षत्र ग्रह चंदनी, ज्योति दिनेश मझाररे। दर्शन ज्ञानचरणथकी, शक्ति निजातम धाररे। ध० ॥३॥ भारी पीळो चीकणो, कनक अनेक तरंगरे। पर्यायदृष्टि न दीजिये, एकज कनक अभंगरे। ध० ॥४॥ दरशण

...क्या, सपरिवारसुं गाढी। मिथ्यामति अपराधण जाणी, ...थी बाहिर काढीहो। मल्लि० ॥५॥ हास्य अरति रति शोक दुगंछा, भय पामर करसाली। नोकषाय श्रेणीगज चढतां, श्वान-तणी गति झालीहो। मल्लि० ५॥ रागद्वेष अविरतिनी परिणति, चरण मोहना योधा। वीतराग परिणति परणमतां, उठी नाठा बोधाहो। मल्लि० ॥६॥ वेदोदय कामा परिणामा, काम्यकर्म सहु त्यागी। निष्कामी करुणारससागर, अनंत चतुष्कपद पागीहो। मल्लि० ॥७॥ दानविघन वारी सहू जनने, अभयदान पद दाता। लाभविघन जगविघन निवारक, परम लाभ रसमाताहो। मल्लि० ॥८॥ वीर्यविघन पंडितवीर्ये हणी, पूरणपदवी योगी। भोगोपभोग दोयविघन निवारी, पूरण भोग सुभोगीहो। मल्लि० ॥९॥ ए अढारदूषण वरजित तनु, मुनिजनवृंदे गाया। अविरति रूपक दोष निरूपण, निरदूषण मन भायाहो। मल्लि० ॥१०॥ इणविधि परखी मनविसरामी, जिनवर गुण जे गावे। दीन-बंधुनी महेर नजरथी, आनन्दघनपद पावेहो। मल्लि० ॥११॥

२०—श्री मुनिसुव्रत जिन—चैत्यवंदन-श्री सहजानंद कृत

आतमधर्म जणायछे, मुनिसुव्रतने ध्याई।
बीजा मत दर्शन घणा, पण त्यां तत्व न भाई ॥१॥
सत्संगी रंगीथई, धरीये आतम ध्यान।
मनरूदा लयलीनथई, तो प्रगटे सद्ग्यान ॥ २ ॥
सद्ग्याने निज रूपमां, रमे आतम राम।
रत्नत्रयीनो एकता, सहजानंद घन धाम ॥ ३ ॥

ज्ञान चरणथकी, अलख सरूप अनेकरे। निर्विकल्प रस पीजि
शुद्ध निरंजन एकरे। ध० ॥४॥ परमारथ पंथ जे कहे, ते
एक तंतरे। व्यवहारे लख जे रहे, तेहना भेद अनन्तरे। ध० ॥
व्यवहारे लख दोहिला, कांइ न आवे हाथरे। शुद्ध नय थाप
सेवतां, नवि रहे दुविधा साथरे। ध० ॥७॥ एक पखी
प्रीतनी, तुमसाथे जगनाथरे। कृपाकरीने राखजो, चरणतले
हाथरे। ध० ॥८॥ चकी धरमतीरथ तणो, तीरथ फल
साररे। तीरथ सेवे ते लहे, आनन्दघन निरधाररे। ध० ॥६

१९—श्री मल्लिनाथ जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानन्द

घाति घातक मल्लिजिन, दोष अढार विहीन,
अवर सदोषी परिहरी, थाओ जिन गुण लीन ॥१॥
जिनगुण निजगुण समअछे, जिन सेव्ये निज सेव,
प्रगट गुणी सेवन थकी, प्रगटे स्वस्वरूप देव ॥२॥
दोष अदोषी परखीये, संताश्रय धरी नेह,
तो सहेजे निपजावीये, सहजानन्द घन नेह ॥३॥

१९—श्री मल्लि जिन स्तवन—श्री आनन्दघन कृत (काफी

सेवक किम अवगणियेहो, मल्लिजिन, ए अब शोभा स
अवर जेहने आदर अति दीये, तेहने मूल निवारीहो। मल्लि
ज्ञानसुरूप अनादि तमारुं, ते लीधुं तमे ताणी।
अज्ञानदशा रीसाणी, जातां काण न ॥२॥
सुपन जागर उजागर
रीसाणी, जाणी न

३१—श्री नमिनाथ जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानंद कृत-

[illegible]नां तजी ध्याइये, सुखी थवा उपाय ।
[illegible]हार शुद्धि भेदथी, अभेद निश्चय पाय ॥ १ ॥
[illegible] थी सत्ता लखी, व्यक्तता छे पर्याय,
[illegible] सुखी तन्मय भजत, परम सौख्यता थाय ॥ २ ॥
[illegible]ने षट् दर्शनो, सद् विचारणा मांय,
[illegible] निर्णय कृपाथकी, सहजानन्द घन थाय ॥३॥

३२—श्रीनमिनाथ जिन स्तवन—श्री आनंदघन (आशावरी)

षट्दरशन जिनअंग भणीजे, न्यासषडंग जो साधेरे । नमिजिन-वरना चरणउपासक, षट्दरशन आराधेरे षट०॥१॥ जिनसुरपादप पाय वखाणुं, सांख्यजोग दोय भेदेरे । आतमसत्ता विवरणकरता, लहो दुगअंग अखेदेरे ॥षट० ॥ २ ॥ भेदअभेद सुगत मीमांसक, जिनवर दोय करभारीरे । लोकालोक अवलंबन भजिये, गुरु-गमथी अवधारीरे । षट० । ३ ॥ लोकायतिक कूख जिनवरनी, अंशविचारी जो कीजेरे । तत्त्वविचार सुधारस धारा, गुरुगम विणकिम पीजेरे । षट ॥४॥ जैन जिनेश्वर वर उत्तमअंग, अंतरंग बहिरंगेरे । अक्षरन्यास धरा आराधक, आराधे धरीसंगेरे । षट० ॥ ५ ॥ जिनवरमां सघला दरशण छे, दर्शने जिनवरभजनारे । सागरमां सघली तटिनी सही, तटिनीमां सागरभजनारे । षट० ॥६॥ जिनस्वरूप थइ जिन आराधे, ते सही जिनवर होवेरे । भृंगी इलिकाने चटकावे, ते भृंगी जगजोवेरे । षट० ॥७॥ चूरणि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परंपर अनुभवरे । समयपुरुषना अंग

कहाए, जे छेदे ते दुरभवरे । षट० ॥ ८ ॥ मुद्रा बीजधारण अक्षर, न्यास अरथ विनियोगेरे । जे ध्यावे ते नवि वंचीजे क्रिया अवंचक भोगेरे । षट० ॥ ९ ॥ श्रुतअनुसार विचारी बोलु सुगुरु तथाविध न मिलेरे । किरियाकरी नवि साधी सकीये, विषवाद चित्त सघलेरे । षट० ॥ १० ॥ ते माटें ऊभा करजोडी जिनवर आगल कहीयेरे । समय चरणसेवा शुद्ध देजो, जिम आनन्दघन लहीयेरे ॥ ११ ॥

२२, श्री नेमिनाथ जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानंद कृत

वीतरागता पामवा, नेमि चरित्र अभ्यास ।
ज्ञानी छतां जाने पछी, राग संततीए खास ॥ १ ॥
एकवार रागे बंध्या, छूटे विरला कोय ।
माटे राग न कीजिये, वीतराग विण लोय ॥ २ ॥
स्वामि सेवक भावथी, राजुल नेमि सेव,
सहजानन्द घनता वर्या, नमुं नेमीश्वर देव ॥ ३ ॥

२२, श्री नेमिनाथ जिन स्तवन (१)—श्री आनंदघन कृत (मारुणी)

अष्ट भवांतर वालही रे, तुं मुज आतमराम । मनरावाला । मुगतिस्त्रीसुं आपणेरे, सगपण कोइ न काम । म० ॥ १ ॥ घर-आवो हो वालम घरआवो, मारी आशा ना विसराम । म० । रथफेरो हो साजन रथफेरो, साजन मारा मनोरथ साथ ॥ म० ॥२॥ नारी पखो स्यो नेहलोरे, साच कहे जगनाथ ॥म०॥ ईस्वर अरधंगे धरीरे, तुं मुज झाले न हाथ । म० ॥ ३ ॥ पशु-जननी करुणा करीरे, आणीहृदय विचार ॥ म० ॥ माणसनी

क्या नहींरे, एक कुण घर आचार। म० ॥ ४ ॥ प्रेम कल्पतरु छेदीनेरे, धरियो जोग धतूर। म०। चतुराइरो कुण कहोरे, गुरु मिलियो जग मूर। म० ॥ ५ ॥ मारुं तो एमां क्युं ही नहींरे, आप विचारो राज ॥म०॥ राजसभामें वेसतारे, किसडी वधसी लाज। म० ॥ ६ ॥ प्रेमकरे जग जनसहुरे, निरवाहे ते ओर। म०। प्रीतकरीने छोडी दे रे, तेसुं न चाले जोर। म० ॥ ७ ॥ जो मनमां एहवुं हतुंरे, निसपत करत न जाण ॥ म० ॥ निसपत करीने छांडतारे, माणस हुवे नुकसान ॥ म० ॥ ८ ॥ देतां दान संवत्सरीरे, सहु लहे वंछितपोप। म०। सेवक वंछित नवी लहेरे, ते सेवकनो दोप। मन० ॥ ९ ॥ सखी कहे ए सामलो रे, हुं कहुं लक्षण सेत। म०। इण लक्षण साची सखीरे, आप विचारो हेत। म० ॥ १० ॥ रागीसुं रागी सहुरे, वैरागी स्यो राग ?। म०। राग विना किम दाखवोरे, मुगतिसुन्दरी माग। म० ॥ ११ ॥ एकगुह्य घटतुं नथीरे, सघलोई जाणे लोक। म०। अनेकांतिक भोगवोरे, ब्रह्मचारी गतरोग। म० ॥ १२ ॥ जिण जोणी तुमने जोउंरे, तिण जोणी जुओ राज। म०। एकवार मुजने जुओरे, तो सीके मुज काज। म० ॥ १३ ॥ मोहदशा धरी भावनारे, चित्त लहे तत्त्वविचार। म०। वीतरागता आदरीरे, प्राणनाथ निरधार। म० ॥ १४ ॥ सेवक पण ते आदरेरे, तो रहे सेवक माम। म०। आशयसाथे चालीयेरे, एहीज रूडुं काम। म० ॥ १५ ॥ त्रिविध योग धरी आदर्योरे, नेमिनाथ भरतार। म०। धारण पोषण तारणोरे, नव रस मुक्ताहार। म० ॥ १६ ॥

...शुद्ध भाव महा। उदये अणव्यापक साक्षी रहया निज ...मे। अहिछता ।।५।। विषम भाव छे संसार तती, समभाव धर्यो ...निवरुर गति। कृत्य-कृत्य थया सहजानन्द दर्शन ज्ञाने। ...विद्या० ।।६।।

३३—श्री महावीर जिन चैत्यवंदन—श्रीसहजानंद कृत

...निज गुण टरया ध्याइये, चित्र चरित्र प्रभुवीर।
द्रव्य भाव निर्ग्रंथता, अहो! साधकता धीर ।।१।।
...साधन थी सिद्धता, अवर साधनाभास।
अहो! वीर पुत्रो धरो, साधन-त्रिक अभिलाप ।।२।।
...न् शिक्षा मूर्ति भजो, त्यागी साध्याभास।
सहजानन्द घनता सधे, शुद्ध क्रिया अभ्यास ।।३।।

३४—श्री महावीर जिन स्तवन (?) श्री आनंदघन (धनाश्री)

वीरजिनेश्वर चरणे लागुं, वीरपणुं ते मांगुं रे। मिथ्या ...मोह तिमिर भयभाग्युं, जित नगारुं वाग्युं रे। वी० ।। १ ।। ...छउमत्थ वीर्य लेश्यासंगे, अभिसंधिज मति अंगेरे। सूक्ष्म

(२)

प्रणमुं पद पंकज पार्श्वना, जस वासना अगम अनूपरे मोह्यो मन मधुकर जेहथी, पामे निज शुद्ध स्वरूपरे ॥प्रणमुं०॥१॥ पंक कलंक शंका नहि, नहीं खेदादिक दुःख दोषरे। त्रिविध अवंचक जोगथी, लहे अध्यातम सुख पोषरे। प्रणमुं ॥२॥ दूरंदशा दूरे टले,भजे मुदिता मैत्रि भावरे वरते नित्य चित्त मध्यस्थता,करुणामय शुद्ध स्वभावरे। प्रणमुं ॥३॥ निज स्वभाव थिर कर धरे, न करे पुद्गलनी खंचरे। साखी हुई वरते सदा, न कदा परभाव प्रपंचरे। प्रणमुं० ॥४॥ सहज दशा निश्चय जगे, उत्तम अनुभव रसरंगरे। रांचे नहीं परभावसुं,निज भावसुं रंग अभंग रे। प्रणमुं ॥५॥ निज-गुण सब निजमां लखे, न चखे परगुणनी रेखरे। खीर नीर-विवरो करे, अनुभव हंस सुपेखरे। प्रणमुं ॥६॥ निर्विकल्प ध्येय अनुभवे, अनुभव अनुभवनी मीत रे। ओरन कबहुं लखी शके, आनंदघन प्रीत प्रतीत रे। प्रणमुं ॥७॥

२३ श्री पार्श्वनाथ जिन स्तवन (३) श्री सहजानंद कृत

जिन मुद्राधर पास, तजी पर आशा, ऊभा निज ध्याने, अहिछत्रा नगर उद्याने। जिन० ॥१॥ शत्रुवट दस भवनी धरतो, मेघमाली क्रोधे कलहलतो, उपसर्ग करे जल धारे, रही नभ छाने। अहिछत्रा० ॥२॥ तन्मय निज शुद्ध स्वभाव ठल्या, उपसर्ग नाशाग्र निमग्न छतां न चल्या। रह्या देहे विदेही भावे, खड्ग जेम म्याने। अहिछत्रा० ॥३॥ आसन कंपे अहिपति आवे, ऊंचकी फणा छत्र सिरे ठावे। प्रिययुत प्रभु गुण गान करे एक ताने। अहिछत्रा० ॥४॥ वंदक निंदक समभाव अहा, ज्ञाता



ध्यानविनाणे शक्तिप्रमाण, निज ध्रुवपद पहिचाणेरे। वी० । आलंबन साधन जे त्यागे, पर परिणतिने भागेरे। अक्षयदर्शन ज्ञानवैरागे, आनन्दघन प्रभु जागेरे। वी० ॥ ७ ॥

(२) *वीर जिनेश्वर स्तवन—श्री आनंदघन कृत*

वीर जिनेश्वर परमेश्वर जयो, जगजीवन जिनभूप। अनुभव मित्तेरे चित्ते हित करी, दाख्युं तास स्वरूप, ।वीर० ।१। जे अगोचर मानस वचने, तेह अतींन्द्रिय रूप। अनुभव मित्ते व्यक्ति शक्तिसुं, भाख्युं तास स्वरूप, ।वी० ।२। नय निक्षेपे जेह न जाणीये, नवि जीहां प्रसरे प्रमाण। शुद्ध स्वरूपेरे ते ब्रह्म दाखवे केवल अनुभव भाण ।वीर० ।३। अलख अगोचर अनुपम अर्थ नो कोण करी जाणेरे भेद। सहज विशुद्धेरे अनुभव वयण जे शास्त्र ते सघला रे खेद ।वीर० ।४। दिशी देखाडी रे शास्त्र सवे रहे, न लहे अगोचर वात। कारज साधक बाधक रहित जे अनुभव मित्त विख्यात, ।वीर० ।५। अहो चतुराई रे अनुभव मित्तनी, अहो तस प्रीत प्रतीत। अंतरजामी स्वामी समीप ते, राखी मित्रसुं रीत, ।वीर० ।६। अनुभव संगेरे रंगे प्रभु मल्या, सफल फल्या सविकाज। निजपद संपद जे ते अनुभवे, आनन्दघन महाराज वीर० । ७ ।

श्री महावीर जिन स्तवन (३) श्रीदेवचंद्र कृत (कड़खानी देशी)

तार हो तार प्रभु मुज सेवक भणी, जगतमां एटलुं सुजश लीजे ॥ दास अवगुण भर्यो जाणी पोता तणो। दयानिधि दीन पर दया कीजे ॥१ ता०॥ राग द्वेषे भर्यो मोह वैरी नड्यो। लोक

२—श्री युगमंधर जिन स्तवन (देशी-नारायणानी)

श्री युगमंधर वीनवुं रे, वीनतडी अवधार रे दयालराय। परपरिणति रंगथी रे, मुझने नाथ उगार रे ॥द० श्री० १॥ कारक ग्राहक भोग्यता रे, में कीधी महाराय रे ॥द०॥ पण तुझ दरिसे प्रभु लही रे, साची वात कहाय रे ॥द० श्री० २॥ यद्यपि मूल स्वभावमें रे, परकर्तृत्व विभाव रे ॥द०॥ अस्ति धरम जे वर्ततो रे, एहनो तथ्य अभाव रे ॥द० श्री० ३॥ पर परिणामिकता दशा रे, लही पर कारण योग रे ॥द०॥ चेतनता परगट थई रे, रचो पुग्गल भोग रे ॥द० श्री० ४॥ अशुद्ध निमित्त तो जड लह्युं रे, वीर्य शक्ति विहीन रे ॥ द० ॥ तुं तो वीरज ज्ञानथी रे, नि अनन्ते लीन रे ॥ द० श्री० ५ ॥ तिण कारण निश्चें कर्यो रे, म निज परिणति भोग रे ॥ द० ॥ तुझ सेवाथी नीपजे रे, जैं भवभय सोग रे ॥ द० श्री० ६ ॥ शुद्ध रमण आनन्दता रे, व निर्मल स्वभाव रे ॥ द० ॥ सकल प्रदेश अमूर्तता रे, ध्याता ध्येय प्रभाव रे ॥ द० ॥श्री० ७॥ सम्यग् तत्त्व जे उपदिश्यो रे, नार्यो तत्त्व उपाय रे ॥ [illegible] ॥ श्रद्धाताने जे ग्रह्यो रे, तेहिज कार्य राय [illegible] ...पि कर्त्ता थये रे, कारक सवि

विहरमान जिन वीसी—श्री देवचन्द्रकृत

१—श्रीसीमन्धर जिन स्तवन (सिद्धचक्र पद वंदो)

श्री सीमंधर जिनवर स्वामी, वीनतडी अवधारो। शुद्धधर्म प्रगट्यो जे तुमचो, प्रगटो तेह अमारो रे, स्वामी विनवीये मनरंगे ॥ १ ॥ जे परिणामिक धर्म तुमारो, तेहयो अमचो धर्म। श्रद्धाभासन रमण वियोगे, वलग्यो विभाव-अधर्म रे, स्वामी ॥ वि० २ ॥ वस्तु स्वभाव स्वजाति तेहनो, मूल अभाव न थाय। पर विभाव अनुगत परिणति थी, कर्मे ते अवराय रे, स्वामी ॥ वि० ॥३॥ जे विभाव ते पण नैमित्तिक, संतति भाव अनादि। परनिमित्त ते विषय संगादिक, ते संयोगे सादि रे, स्वामी ॥ वि० ॥४॥ अशुद्धनिमित्ते ए संसरता, अत्ता कत्ता परनो। शुद्ध निमित्त रमे जब चिद्घन, कर्त्ता भोक्ता घरनो रे, स्वामी ॥ वि० ॥५॥ जेहना धर्म अनंता प्रगट्या, जे निज परिणति वरियो। परमातम जिनदेव अमोही, ज्ञानादिक गुण दरियो रे, स्वामी ॥ वि० ॥ ६ ॥ अवलंबन उपदेशक रीते, श्रीसीमंधर देव। भजिये शुद्ध निमित्त अनोपम, तजिये भव भय टेव रे, स्वामी ॥वि० ॥७॥ शुद्धदेव अवलंबन करतां, परहरिये परभाव। आतमधर्म रमण अनुभवतां, प्रगटे आतम भाव रे, स्वामी ॥ वि० ॥ ८ ॥ आतम गुण निर्मल नीपजतां, ध्यानसमाधि स्वभावे। पूर्णानन्द सिद्धता साधी, देवचन्द्र पद पावे रे, स्वामी

४—श्री सुबाहु जिन स्तवन ।

श्री सुबाहुजिन अन्तरयामी, मुझ मननो विसरामी रे ।। प्रभु अन्तरयामी।। आतम धर्म तणो आरामी, परपरिणति निष्कामी रे।। प्र० १।। केवलज्ञान अनंत प्रकाशी, भविजन कमल विकाशी रे।। प्र० चिदानन्दघन तत्त्वविलासी, शुद्ध स्वरूप निवासी रे।। प्र० २।। यद्यपि हुं मोहादिकें छलियो, परपरिणति शुं भलियो रे।। प्र० ।। हवे तुझ सम मुज साहिब मलियो, तिणें सवि भव भय टलियो रे ।। प्र० ३ ।। ध्येय स्वभावें प्रभु अवधारी, दुर्ध्यांता परिणति वारी रे ।। प्र० ।। आसन वीर्य एकताकारी, ध्यान सहज संभारी रे ।। प्र० ४ ।। ध्याता ध्येय समाधि अभेदे, परपरिणति विच्छेदे रे ।। प्र० ।। ध्याता साधक भाव उच्छेदे, ध्येय सिद्धता वेदे रे ।। प्र० ५।। द्रव्यक्रिया साधन विधि याची, जे जिन आगम वाची रे ।। प्र० ।। परिणति वृत्ति विभावें राची, तिणें नवि थाये साची रे ।। प्र० ६ ।। पण नवि भय जिनराज पसायें, तत्त्व रसायण पाये रे । प्र० । प्रभु भगते निज चित्त वसाये, भाव रोग मिट जाये रे ।। प्र० ७ ।। जिनवर वचन अमृत अनुसरिये, तत्त्व रमण आदरिये रे ।। प्र० ।। द्रव्यभाव आश्रव परिहरिये, देवचन्द्र पद वरिये रे ।। प्र० ८ ।।

५—श्री सुजात जिन स्तवन ।

स्वामी सुजात सुहाया, दीठां आणंद उपाया रे । मनमोहना जिनराया । जिणें पूरण तत्त्व निपाया, द्रव्यास्तिक नय ठहराया रे।। म० १।। पर्यायास्तिक नयराया, ते मूल स्वभाव समाया

३—श्री बाहु जिन स्तवन ।

बाहुजिणंद दयामयी, वर्तमान भगवान ॥ प्रभुजी ॥ महाविदेहे विचरता, केवलज्ञान निधान ॥ प्र० बा० ॥१॥ द्रव्य थकी छकाय ने, न हणे जेह लगार ॥ प्र० ॥ भावदया परिणामनो, एहीज छे व्यवहार ॥ प्र० बा० २ ॥ रूप अनुत्तर देव थी, अनंत गुणुं अभिराम ॥ प्र० ॥ जोतां पण जगजंतु ने, न वधे विषय विराम ॥ प्र० बा० ३ ॥ कर्मउदय जिनराजनो, भविजन धर्म सहाय ॥ प्र० ॥ नामादिक संभारतां, मिथ्यादोष विलाय ॥प्र० बा ० ४॥ आतमगुण अविराधना, भावदया भण्डार ॥प्र० ॥ क्षायिक गुण पर्याय में, नवि पर धर्मप्रचार ॥ प्र० बा ५ ॥ गुण गुण परिणति परिणमे, बाधक भाव विहीन ॥ प्र० ॥ द्रव्य असंगी अन्य नो, शुद्ध अहिंसक पीन ॥ प्र० बा ६ ॥ क्षेत्रे सर्व प्रदेश में, नहीं परभाव प्रसंग ॥ प्र० ॥ अतनु अयोगी भावथी, अवगाहना अभंग ॥ प्र० बा० ॥ ७ ॥ उत्पाद व्यय ध्रुव पणे, सहेजे परिणति थाय ॥ प्र० ॥ छेदन योजनता नहीं, वस्तु स्वभाव समाय ॥ प्र० बा० ८ ॥ गुण पर्याय अनन्तता कारक परिणति तेम ॥ प्र० ॥ निज-निज परिणति परिणमे, भाव अहिंसक एम ॥ प्र० बा० ॥ ९ ॥ एम अहिंसकता मयी, दीठो तू जनराज ॥ प्र० ॥ रक्षक निज पर जीवनो तारण तरण जहाज ॥ प्र० बा० १० ॥ परमातम परमेसरु, भावदया दातार ॥ प्र० ॥ सेवो ध्यावो एहने, देवचंद्र सुखकार ॥ प्र० बा० ११

४—श्री सुबाहु जिन स्तवन ।

श्री सुबाहुजिन अन्तरयामी, मुझ मननो विसरामी रे ॥ प्रभु अन्तरयामी ॥ आतम धर्म तणो आरामी, परपरिणति निःकामी रे॥प्र० १॥ केवलज्ञान अनंत प्रकाशी, भविजन कमल विकाशी रे॥ प्र० चिदानन्दघन-तत्त्वविलासी, शुद्ध स्वरूप निवासी रे॥प्र० २॥ यद्यपि हुं मोहादिकें छलियो, परपरिणति शुं भलियो रे॥प्र०॥ हवे तुझ संम मुज साहिब मलियो, तिणें सवि भव भय टलियो रे ॥ प्र० ३ ॥ ध्येय स्वभावें प्रभु अवधारी, दुर्ध्याता परिणति वारी रे ॥ प्र० ॥ आसन वीर्य एकताकारी, ध्यान सहज संभारी रे ॥ प्र० ४ ॥ ध्याता ध्येय समाधि अभेदे, परपरिणति विच्छेदे रे ॥ प्र० ॥ ध्याता साधक भाव उच्छेदे, ध्येय सिद्धता वेदे रे ॥ प्र० ५॥ द्रव्यक्रिया साधन विधि याची, जे जिन आगम वांची रे ॥ प्र० ॥ परिणति वृत्ति विभावें राची, तिणें नवि थाये साची रे ॥ प्र० ६ ॥ पण नवि भय जिनराज पसायें, तत्त्व रसायण पाये रे । प्र० । प्रभु भगते निज चित्त वसाये, भाव रोग मिट जाये रे ॥ प्र० ७ ॥ जिनवर वचन अमृत अनुसरियें, तत्त्व रमण आदरियें रे ॥ प्र० ॥ द्रव्यभाव आश्रव परिहरियें, देवचन्द्र पद वरियें रे ॥ प्र० ८ ॥

५—श्री सुजात जिन स्तवन ।

स्वामी सुजात सुहाया, दीठां आणंद उपाया रे । मनमोहना जिनराया । जिणें पूरण तत्त्व निपाया, द्रव्यास्तिक नय ठहराया रे॥म० १॥ पर्यायास्तिक नयराया, ते मूल स्वभाव समाया

रे ॥ म० ॥ ज्ञानादिक स्व परजाया, निजकार्य करण वरताय रे ॥ म० २ ॥ अंश नय मार्ग कहाया, ते विकल्प भाव सुणाय रे ॥ म० ॥ नय चार ते द्रव्य थपाया, शब्दादिक भाव कहाय रे ॥म० ३॥ दुर्नय ते सुनय चलाया, एकत्व अभेदे ध्याया रे ॥म० ॥ ते सवि परमार्थ समाया, तसु वर्तन भेद गमाया रे ॥ म० ४ ॥ स्याद्वादी वस्तु कहीजे, तसु धर्म अनन्त लहीजे रे ॥ म०॥ सामान्य विशेषनुं धाम, ते द्रव्यास्तिक परिणाम रे ॥ म० ५ ॥ जिनरूप अनंत गणीजे, ते दिव्य ज्ञान जाणीजे रे ॥ म० ॥ श्रुत ज्ञाने नय पथ लीजे, अनुभव आस्वादन कीजे रे ॥ म० ६ ॥ प्रभु शक्ति व्यक्ति एक भावे, गुण सर्व रह्या समभावे रे म० ॥ माहरे सत्ता प्रभु सरखी, जिनवचन पसाये परखी रे ॥ म० ७ ॥ तूं तो निज संपत्ति भोगी, हुं तो परपरिणतिनो योगी रे ॥ म० ॥ तिण तुम्ह प्रभु माहरा स्वामी, हुं सेवक तुझ गुण ग्रामी रे ॥ म० ॥ ए सम्बन्धे चित्त समवाय, मुझ सिद्धिनुं कारण थाय रे ॥ म० ॥ जिनराजनी सेवना करवी, ध्येय ध्यान धारणा धरवीरे ॥म० ६॥ तूं पूरण ब्रह्म अरूपी, तूं ज्ञानानंद स्वरूपी रे ॥ म० ॥ इम तत्त्वालंबन करीयें, तो देवचन्द्र पद वरीये रे ॥ म० १० ॥

६—श्री स्वयंप्रभ जिन

स्वामी स्वयंप्रभने हो

वस्तु पूरण जसु नीपनो, भाव

धर्म ते हो जोग समारखा,

स्वभावे सुधर्मनो, साधन, हेतु

...निज क्षायिक पणें, जे निज गुण प्राग्भाव। पूर्णावस्था नें ...निरावरी, साधन धर्म स्वभाव ॥ ३ स्वा० ॥ समकित गुण ...दो शैलेशी लगें, आतम अनुगत भाव। संवर निर्जरा हो ...दान हेतुता, साध्यालंबन दाव ॥ ४ स्वा० ॥ सकल प्रदेशों ...कर्म अभावता, पूर्णानन्द स्वरूप। आतम गुणनी हो जे ...लता सिद्ध स्वभाव अनूप ॥ ५ स्वा० ॥ अचल अबाधित हो ...निःसंगता, परमातम चिद्रूप। आतमभोगी हो रमता निज ...गो, सिद्धरमण ए रूप ॥ ६ स्वा० ॥ एहवो धर्म हो प्रभुने नीपन्यो, ...पाम्यो तेहवो धर्म। जे आदरतां हो भवियण शुचि हुए, त्रिविध ...दारी कर्म ॥ ७ स्वा० ॥ नाम धर्म हो ठवण धर्म तथा, द्रव्य-...त्र तिम काल। भाव धर्मना हो हेतुपणे भला, तेह विना सहु ...ाल ॥ ८ स्वा०॥ श्रद्धा भासन हो तत्त्व रमण पणे, करता तन्मय ...ाव। देवचन्द्र जिनवर पद सेवतां, प्रगटे वस्तु स्वभाव ।९ स्वा०।

७—श्री ऋषभानन जिन स्तवन

श्री ऋषभानन वांदीयें, अचल अनन्त गुणवास। जिनवर। ...ायिक चारित्र भोगवी, ज्ञानानन्द विलास ॥ जि०। श्री० १॥ ...प्रसन्न प्रभु मुख ग्रहे, तेहिज नयन प्रधान। जि०। जिन ...रणें जे नमीयें, मस्तक तेह प्रमाण ॥ जि०। श्री० २॥ अरिहा ...दकज अरचीयें, सलहीजें ते हत्थ। जि०। प्रभुगुण चिन्तन में ...मे, तेहिज मन सुकयत्थ ॥जि० श्री० ३॥ जाणो छो सहु जीवनी, ...साधक बाधक भाँत। जि०। पण श्रीमुख थी साँभली, मन पामे ...॥ जि० श्री० ४॥ तीन काल जाणग भणी, शुं कहिये

वारम्वार। जि०। पूर्णानन्दी प्रभुतणुं, ध्यान ते परम आधार ॥ जि० श्री० ५ ॥ कारणथी कारज हुवे, ए श्री जिनमुख वाण। जि०। पुष्टहेतु मुफ सिद्धिना, जाणी कोध प्रमाण ॥जि० श्री० ६॥ शुद्ध तत्त्व निज सम्पदा, ज्यां लगें पूर्ण न थाय। जि०। त्यां लगें जगगुरु देवना, सेवुं चरण सदाय ॥ जि० श्री० ७॥ कारण पूर्ण कर्या विना, कारण केम मुकाय। जि०। कारज रुचि कारण-तणा, सेवे शुद्ध उपाय ॥ जि० श्री० ८ ॥ ज्ञान चरण सम्पूर्णता, अव्यावाध अमाय। जि०। देवचन्द्र पद पामीयें, श्री जिनराज पसाय ॥ जि० श्री० ६ ॥

८—श्री अनन्तवीर्य जिन स्तवन

अनन्तवीरज जिनराजनो, शुचि वीरज परम अनन्त रे। निज आतम भावे परिणम्यो, गुणवृत्ति वर्त्तनावन्त रे ॥ १ ॥ मन मोह्युं अम्हारुं प्रभुगुणें ॥ ए आंकणी ॥ यद्यपि जीव सहु सदा, वीर्यगुण सत्तावंत रे। पण कर्मे आवृत चल तथा, वाल वाधक भाव लहंत रे ॥ २ म० ॥ अल्पवीर्य क्षयोपशम अछे, अविभाग वर्गणा रूप रे। षड्गुण एम असंख्यथी, थाये योग स्थान सरूप रे ॥ ३ म० ॥ सुहम निगोदी जीवथी, जावसन्नी वर पज्जत रे। योगनां ठाण असंख्य छे, तरतम मोहे परायत्त रे ॥ ४ म० ॥ संयम ने योगें वीर्य ते, तुम्हें कीधो पंडित दक्ष रे। साध्य रसी साधकपणे, अभिसंधि रम्यो जिनलक्ष रे ॥ ५ म० ॥ अभिसंधि अबंधक नीपने, अनभिसंधि अबंध थाय रे। स्थिर एक तत्त्वता वरततो, ते क्षायिक शक्ति समाय रे ॥ ६ म०

संयोगता सजी कीध अयोधाम रे। अकरण वीर्य अनंतता, निज सहकार अकाम रे॥ ७ म०॥ शुद्ध अचल निजवीर्यनी, निरुपाधिक शक्ति अनंत रे। ते प्रगटी जाणी सही, तिणे तुम-हिज देव महंत रे ॥ ८ म० ॥ तुझ ज्ञाने चेतना अनुगमी, मुझ वीर्य स्वरूप समाय रे। पंडित क्षायिकता पामशे, ए पूरण सिद्धि उपाय रे॥ ९ म०॥ नायक तारक तुं धणी, सेवनथी आतम सिद्धि रे। देवचन्द्र पद संपजे, परमाणंद समृद्धि रे॥ १० म०॥

९—श्री सुरप्रभ जिन स्तवन (कडखानी—देशी)

सूर जगदीशनी तीक्ष्ण अति शूरता, तेणें चिरकाल नो मोह जीत्यो। भाव स्याद्वादता शुद्ध परकाश करि, नीपनो परम पद जग वदीतो॥ १ सूर जगदीशनी ०॥ प्रथम मिथ्यात्व हणि, शुद्ध दंसण निपुण, प्रगट करि जेणें अविरति पणासी। शुद्ध चारित्र गत वीर्य एकत्वथी, परिणति कलुषता सवि विणासी॥ २ सूर जगदीशनी०॥ वारि परभावनी कर्त्ता मूळथी, आत्म परिणाम कर्तृत्व धारी। श्रेणी आरोहतां वेद हास्यादिनी, संगमी चेतना प्रभु नियारी॥ सू०॥ भेदज्ञाने यथा वस्तुता ओलखी। द्रव्य पर्यायमें थइ अभेदी। भाव सविकल्पता छेदि केवल सकल, ज्ञान अनंतता स्वामि वेदि॥४ सू॥ वीर्यक्षायिक बलें चपलता योगनी रोधि चेतन कर्यो शुचि अलेशी। भाव शैलेशी में परम अक्रिय थई, क्षय करी चार तनु कर्मशेषी॥ ५ सू०॥ वर्ण रस गंध विनु फरस संस्थान विनु, योगतनु संग विनु जिन अरूपी। [illegible] तत्त्व सुख अनुभवी, तत्त्व तन्मय सदा

॥ ६ सू० ॥ ताहरी शूरता धीरता तीक्ष्णता, देखी सेवक तणो चित्त राच्यो। राग सुप्रशस्तथी गुणी आश्चर्यता, गुणी अद्भुत-पणे जीव माच्यो ॥ ७ सू० ॥ आत्मगुण रुचि थये तत्त्व साधन रसी, तत्त्व निष्पत्ति निर्वाण थावे। देवचन्द्र शुद्ध परमात्म सेवन थकी, परम आत्मिक आनन्द पावे ॥ ८ सू० ॥

१०—श्री विशाल जिन स्तवन।

देव विशाल जिणंदनी, तमे ध्यावो तत्त्व समाधि रे। चिदानन्द रस अनुभवी, सहज अकृत निरुपाधि रे ॥१ त० ॥ अरिहंत पद वंदिये गुणवन्त रे। गुणवन्त अनन्त महंत स्तवो, भवतारणो भगवन्त रे ॥ ए आंकणी ॥ भव उपाधि गद टालवा, प्रभुजी छो वैद्य अमोघ रे। रत्नत्रयी औषधि करी, तमें तार्यां भविजन ओघ रे ॥ २ त० अ० ॥ भव समुद्र जल तारवा, निर्यामक सम जिन-राज रे। चरण जहाजें पामीयें, अक्षय शिवनगरनुं राज रे ॥ ३ अ० अ० ॥ भव अटवी अतिगहन थी, पारग प्रभुजी सत्थ वाह रे। शुद्धमारग दर्शकपणे, योग क्षेमंकर नाह रे॥ ४ यो० अ०॥ रक्षक जिन छकायना, वलि मोहनिवारक स्वामि रे। श्रमण संघ रक्षक सदा, तेणे गोप ईश अभिराम रे॥ ५ ते० अ० ॥ भाव अहिंसक पूर्णता, माहणना उपदेश रे। धर्म अहिंसक नीपनो, माहण जगदीश विशेष रे ॥ ६ मा० अ० ॥ पुष्ट कारण अरिहंतजी, तारक ज्ञायक मुनिचन्द रे। मोचक सर्व भावथी, मीपावे मोह अरिन्द रे॥ ७ मीं० अ० ॥ काम कुम्भ सुरमणि परें, सहेजें उपगारी थाय रे। देवचन्द्र सुखकर गुण गेह अमोह अमाय रे ॥ गु० अ० ॥

११—श्री वज्रंधर जिन स्तवन। (नदी यमुना के तीर)

विहरमान भगवान सुणो मुझ वीनति। जग तारक जगनाथ, अछो त्रिभुवन पति। भासक लोकालोक, तिणे जाणो छती। तो पण वीतक वात, कहूं छं तुम प्रति॥ १॥ हूं सरूप निज छोडि, रम्यो पर पुद्गले। झीलयो उलट आणी, विषय तृष्णाजले। आश्रव बँध विभाव, करूं रुचि आपणी। भूल्यो मिथ्यावास, दोष द्युं परभणी॥२॥ अवगुण ढांकण काज करूं जिनमत क्रिया। न तजुं अवगुण चाल, अनादिनी जे प्रिया। दृष्टिरागनो पोष, तेह समकित गणुं। स्याद्वदनी रीति, न देखुं निजपणुं॥ ३॥ मन तनु चपल स्वभाव, वचन एकान्तता। वस्तु अनन्त स्वभाव, न भासे जे छता। जे लोकोत्तर देव, नमूँ लौकिकथी दुर्लभ सिद्ध स्वभाव, प्रभो तहकीकथी॥४॥ महाविदेह मझार के, तारक जिन-वरु। श्रीवज्रंधर अरिहन्त, अनन्त गुणाकरु। ते निर्यामक श्रेष्ठ, सही मुझ तारसे। महावैद्य गुणयोग, रोग भव वारशे॥५॥ प्रभु-मुख भव्य स्वभाव, सूणुं जो माहरो। तो पामे प्रमोद, एह चेतन खरो। थाय शिव पद आश राशि सुखवृन्दनी। सहज स्वतंत्र स्वरूप, खाण आणंदनी॥६॥ वलग्या जे प्रभु नाम, धाम तेगुण-तणा, धारो चेतनराम एह थिरवासना। देवचन्द्र जिनचन्द्र, हृदय स्थिर थापजो। जिन आणायुक्त भक्ति, शक्ति मुझ आपजो॥७॥

१२—श्री चन्द्रानन जिन स्तवन। (वीरा चंदला)

चन्द्रानन जिन, सांमलीएं अरदास रे। मुझ सेवक भणी, [illegible] प्रत्यासो रे॥ १ चं०॥ भरतक्षेत्र मानवपणो रे, ~

दुःषम काळ जिनपूरवधर विरहथी रे, दुलहो साधन चालो रे ॥ २ चन्द्रा० ॥ द्रव्य क्रिया रुचि जीवडा रे, भाव धर्मरुचिहीन। उपदेशक पण तेहवा रे, शुं करे जीव नवीन रे ॥ ३ चं० ॥ तत्त्वागम जाणग तजी रे, बहुजन सम्मत जेह । मूढ हठी जन आदर्या रे, सुगुरु कहावे तेह रे ॥ ४ चं० ॥ आणा साध्य विना क्रिया रे, लोके मान्यो रे धर्म। दंसण नाण चरित्तनो रे, मूल न जाण्यो मर्म रे ॥ ५ चं० ॥ गच्छ कदाग्रह साचवे रे, माने धर्म प्रसिद्ध। आतमगुण अकषायता रे, धर्म न जाणे शुद्ध रे ॥६॥ चं० ॥ तत्त्वरसिक जन थोडला रे, बहुलो जन सम्वाद। जाणो छो जिनराजजी रे, सघला एह विवाद रे ॥७ चं०॥ नाथ चरण वंदनतणो मन मां घणो उमंग। पुण्य विना किम पामिये रे, प्रभुसेवननो रंग रे ॥ ८ चं० ॥ जगतारक प्रभु वंदीए रे, महाविदेह मझार। वस्तुधर्म स्याद्वादता रे, सुणि करिये निर्धार रे ॥ ९ चं० ॥ तुम करुणा सहु ऊपरे रे, सरखी छे महाराय। पण अविराधक जीवने रे, कारण सफलुं थाय रे ॥ १० चं० ॥ एहवा पण भवि जीवने रे, देवभक्तिआधार। प्रभुसमरणथी पामीये रे, देवचन्द्र पद सार रे ॥ ११ चं० ॥

१३—श्री चन्द्रबाहु जिन स्तवन

चन्द्रबाहुजिन सेवना, भव नासिनी तेह। परपरिणतिना पासने, निष्कासन रेह ॥ १ चं० ॥ पुद्गलभाव आशंसना, उद्धासन केतु। सम्यग्दर्शन वासना,_

॥चं० ॥ त्रिकरण योग प्रशंसना ३ ..

भावना, निजपावना अंग ॥ ३ चं० परमातम पद कामना, कामनाशक एह । सत्ताधर्म प्रकाशना, करवा गुणगेह ॥ ४ चं० ॥ परमेश्वर आलंबना, राच्या जेह जीव । निर्मल साध्यनी साधना, साधे तेह सदीव ॥ ५ चं० ॥ परमानन्द उपायवा, प्रभु पुष्ट उपाय । तुम सम तारक सेवतां, परसेव न थाय ॥ ६ चं० ॥ शुद्धातम संपत्ति तणा, तुम्हें कारण सार । देवचन्द्र अरिहंतनी, सेवा सुखकार ॥ ७ चं० ॥

१४—श्री भुजंग जिन स्तवन

पुष्कलावइ विजयें हो, के विचरे तीर्थपति । प्रभु चरणने सेवे हो, के सुर नर असुरपति । जसु गुण प्रगट्यो हो, के सर्व प्रदेश मां । आतम गुणनी हो, के विकसी अनंत रमा ॥ १ ॥ सामान्य स्वभावनी हो, के परिणति असहाइ । धर्म विशेषनी हो, के गुणने अनुजाइ । गुण सकल प्रदेशें हो, के निजनिज कार्य करे । समुदाय प्रवर्त्ते हो, के कर्ता भाव धरे ॥२॥ जड़ द्रव्य चतुष्कें हो, के करता भाव नहीं । सर्व प्रदेशें हो, के वृत्ति विभिन्न कही । चेतन द्रव्यने हो, के सकल प्रदेश मिले । गुणवर्तना वर्त्ते हो, के वस्तुने सहज चले ॥ ३ ॥ संकर सहकारी हो, के सहजे गुण वरते । द्रव्यादिक परिणति हो, के भावें अनुसरते । दानादिक लब्धि हो, के न हुए सहाय विना । सहकार अकंपे हो, के गुणनी वृत्ति घना ॥ ४॥ पर्याय अनंता हो, के जे एक कार्य पणें । वरते तेहने हो, के जिन-[illegible]गुण पभणे । ज्ञानादिक गुणनी हो, के वर्त्तना जीव प्रदेश। [illegible]क द्रव्यने हो, के सहकार करते ॥५॥ ग्राहक

हो, के प्रभु तुम धर्म रमी। आतम अनुभव थी हो, के परिणति अन्य वमी। तुम शक्ति अनंती हो, के गातां ने ध्यातां। मुझ शक्ति विकासन हो, के थाये गुण रमतां॥ ६॥ इम निज गुण-भोगी हो, के स्वामि भुजंग मुदा। जे नित्य वंदे हो, के ते नर धन्य सदा। देवचन्द्र प्रभुनी हो, के पुण्ये भक्ति सधे। आतम अनुभवनी हो, के नित्य शक्ति वधे॥ ७॥

१५—ईश्वर जिन स्तवन

सेवो ईश्वर देव, जिणे ईश्वरता हो निज अद्‌भुत वरी। तिरोभावनी शक्ति, आविर्भावे हो सहु प्रगट करी॥ १॥ अस्ति-त्वादिक धर्म, निर्मल भावें हो सहुने सर्वदा। नित्यत्वादि स्वभाव ते परिणामी हो जड़चेतन सदा॥ २॥ कर्ता भोक्ता भाव, कारक ग्राहक हो ज्ञान चारित्रता। गुणपर्याय अनंत, पाम्या तुमथा हो पूर्ण पवित्रता॥ ३॥ पूर्णानन्द स्वरूप, भोगी अयोगी हो उपयोगी सदा। शक्ति सकल स्वाधीन, वरते प्रभुनी हो जे न चले कदा॥ ४॥ दोप विभाव अनन्त, नासे प्रभुजी हो तुज अवलम्बने। ज्ञानानंद महंत, तुज सेवाथी हो सेवक ने बने॥ ५॥ धन्य धन्य ते जीव, प्रभुपद वंदी हो जे देशना सुणे। ज्ञान क्रिया करे शुद्ध, अनुभव योगे हो निज साधक पणे॥ ६॥ वारंवार जिनराज, तुम पद सेवा हो होजो निर्मली। तुज शासन अनुजाई, वासन भासन तत्त्वरमण वली॥ ७॥ शुद्धातम निजधर्म, रुचि अनुभव-थी हो साधन सत्यता। देवचन्द्र [illegible] होशे व्यक्तता॥ ८॥

१६—श्री नमिप्रभ जिन स्तवन ।

नमिप्रभ नमिप्रभ प्रभुजी वीनवुं होजी, पामी वर प्रस्ताव। जाणोछो जाणोछो विण विनवे होजी, तोपण दास स्वभाव ॥१ न० ॥ हुं करता हुं करता पर भावनो होजी, भोक्ता पुद्गलरूप। ग्राहक ग्राहक व्यापक एहनो होजी, राच्यो जड भय भूप ॥ २ ॥ न० आतम आतम धर्म विसारीय होजी, सेव्यो मिथ्या माग। आश्रव आश्रव बंधपणुं कयुं होजी, संवरनिर्ज्जर त्याग ॥ ३ ॥ न० ॥ जडचल जडचल कर्मजे देहने होजी, जाण्युं आतम तत्त्व। बहिरातम बहिरातम में ग्रही होजी, चतुरंगे एकत्व ॥ ४ न० ॥ केवल केवलज्ञान महोदधि होजी, केवल दंसणबुद्ध। वीरज वीरज अनंत स्वाभावनो होजी, चारित्र क्षायिक शुद्ध ॥ ५ न० ॥ विश्रामि विश्रामि निज भावना होजी, स्याद्वादी अप्रमाद। परमातम परमातम प्रभु देखतां होजी, भागी भ्रांति अनाद ॥ ६ ॥ न० ॥ जिनसम जिनसम सत्ता ओलखी होजी, तसु प्राग्भावनी ईह। अन्तर अन्तर आतमता लही होजी, परपरिणति निरीह ॥ ७ न० ॥ प्रतिछन्दें प्रतिछन्दें जिनराज ने होजी, करता साधक भाव। देवचन्द्र देवचन्द्र पद अनुभवे होजी, शुद्धात्तम प्राग्भाव ॥ ८ न० ॥

१७—वीरसेन जिन स्तवन ।

वीरसेन जगदीश, ताहरी परम जगीश। आज हो दीसे रे, वीरजता त्रिभुवनथी घणीजी ॥ १ ॥ अणहारी अशरीर, अक्षय जय अति धीर। आज हो अविनाशी, अलेशी अद प्रभुता

धणीजी ॥ २ ॥ अतीन्द्रिय गतक्रोह, विगतमाय मद लोह। आज हो सोहे रे, मोहे जगजनता भणीजी ॥ ३ ॥ अमर अखंड अरूप, पूर्णानंद स्वरूप। आज हो चिद्रूपे दीपे, थिरम मता धणी जी ॥ ४ ॥ वेदरहित अकषाय, शुद्ध सिद्ध असहाय। आज हो ध्यायकें, नायकने ध्येयपदें मलो जी ॥ ५ ॥ दानलाभ निज भोग। शुद्धस्वगुण उपभोग। आज हो अजोगी, करता भोक्ता प्रभु लहोजी ॥ ६ ॥ दरसण ज्ञान चारित्र, सकल प्रदेश पवित्र। आज हो निर्मल, निस्संगी अरिहा वंदिये जी ॥ ७ ॥ देवचन्द्र जिनचन्द्र, पूर्णानन्दनो वृन्द। आज हो जिनवर सेवाथी, थिर आनन्दीयें जी ॥ ८ ॥ ॥

॥ १८–श्री महाभद्र जिन स्तवन ॥

महाभद्र जिनराज राज, राजविराजे हो आज तुमारडोजी। क्षायिकवीर्य अनंत, धर्म अभंगे हो तुं साहिब वडोजी ॥१॥ हुं० ॥ बलिहारी रे श्री जिनवरतणी रे। कर्त्ता भोक्ता भाव, कारक कारण हो तुं स्वामी छतोजी। ज्ञानानन्द प्रधान, सर्व वस्तुनो हो धर्म प्रकाशतो जी ॥२॥ हुं० ॥ सम्यग्दर्शन मित्त, स्थिर निर्द्धारि रे अविसंवादता जी। अव्याबाध समाधि, कोश अनश्वरे रे, निज आनन्दता जी ॥ ३ ॥ हुं० ॥ देश असंख्य प्रदेश, निजनिज रीते रे गुण संपत्ति भर्या जी। चारित्र दुर्ग अभंग आतम शक्ते हो परजय संचर्या जी ॥४॥ हुं० ॥ धर्मक्षमादिक सैन्य, परिणति प्रभुता हो गुजबल आकरोजी। तत्व सकल प्राग्भाव, सादि अनंती रे रीते प्रभु थयाँ जी ॥५॥ हुं० ॥ द्रव्य , सकल

निवारो रे साहिब अवतर्यो जी। सहज स्वभाव विलास, भोगी उपयोगी रे ज्ञान गुणे भर्यो जी ॥६॥ हुं० ॥ आचारिज उवझाय, साधक मुनिवर हो देसविरति धरु जी, आतम सिद्ध अनंत, कारण रूपे रे योग क्षेमंकरु जी ॥ ७ ॥ हुं० ॥ सम्यग्दृष्टि जीव, आणारागी हो सहु जिनराजना जी। आतम साधन काज, सेवे पदकंज हो श्री महाराजनाजी ॥ ८ ॥ हुं० ॥ देवचंद्र जिनचन्द्र, भगते राची हो भवि आतम रुचि जी अव्यय अक्षय शुद्ध, संपत्ति प्रगटे हो सत्तागत शुचि जी ॥ ६ ॥ हुं० ॥

॥ १६—श्री देवजसा जिन स्तवन ॥

देवजसा दरिसण करो, विघटे मोह विभाव लाल रे। प्रगटे शुद्ध स्वभावता, आनन्द लहरी दाव लाल रे ॥१॥ दे० ॥ स्वामी वसो पुष्करवरे, जंबू भरते दास लाल रे। क्षेत्र विभेद घणो पड्यो, किम पहुंचे उल्लास लाल रे ॥२॥ दे० ॥ होवत जो तनु पांखडी, आवत नाथ हजूर लाल रे। जो होती चित्त आंखडी, देखत नित्य प्रभु नूर लाल रे ॥३॥ दे० ॥ शासनभक्त जे सुरवरा, विनवुं शीस नमाय लाल रे ॥ कृपा करो मुझ ऊपरे, तो जिन-वंदन थाय लाल रे ॥४॥ दे० ॥ पूछुं पूर्व विराधना, शी कीधी इणें जीव लाल रे। अविरति मोह टले नहीं, दीठे आगम दीव लाल रे ॥५॥ दे० ॥ आतम शुद्ध स्वभावने, बोधन शोधन काज लाल रे ॥ रत्नत्रयी प्राप्ति तणो, हेतु कहो महाराज लाल रे ॥ ६ ॥ दे० ॥ तुज सरिखो साहिब मिल्यो, भांजे भवभ्रम टेव ...रे ॥ पुष्टालंबन प्रभु लहि, कोण करे परसेव लाल रे

॥७॥ दे० ॥ दीनदयाल कृपालुओ, नाथ भविक आधार लाल रे।
देवचन्द्र जिन सेवना, परमामृत सुखकार लाल रे ॥ ८ ॥ दे० ॥

॥ २०—श्री अजितवीर्य जिन स्तवन ॥

अजितवीर्य जिन विचरतारे मनमोहना रे लाल। पुष्कर अर्धविदेहरे, भविबोहना रे लाल। जंगम सुरतरु सारिसोरे ॥ म० ॥ सेवे धन्य धन्य तेह रे ॥ भवि० ॥ १ ॥ जिनगुण अमृत पानथी रे ॥ म० ॥ अमृतक्रिया सुपसायरे ॥ म० ॥ अमृतक्रिया अनुष्ठानथीरे ॥ म० ॥ आतम अमृत थाय रे ॥ भ० ॥२॥ प्रीति भक्ति अनुष्ठानथीरे ॥म० ॥ वचन असंगी सेव रे ॥ भ० ॥ कर्ता तन्मयता लहेरे ॥ म० ॥ प्रभुभक्ति नित्यमेव रे ॥ भ० ॥ ३ ॥ परमेश्वर अवलंबने रे ॥ म० ॥ ध्याता ध्येय अभेद रे ॥ म० ॥ ध्येय समापत्ति हुवे रे ॥म०॥ साध्यसिद्धि अविच्छेद रे ॥ भ० ॥४॥ जिन गुण राग परागथी रे ॥ म० ॥ वासित मुझ परिणाम रे ॥ भ० ॥ तजशे दुष्ट विभावतारे ॥ म० ॥ सरशे आतम काम रे ॥ भ० ॥ ५ ॥ जिन भक्तिरत चित्तने रे ॥ म० ॥ वेधक रस गुण प्रेम रे ॥ भ० ॥ सेवक जिन पद पामशे रे ॥ म० ॥ रसवेधित अय जेम रे ॥ भ० ६ ॥ नाथ भक्तिरस भावथी रे ॥ म० ॥ तृण जाणुं परदेव रे ॥ म० ॥ चिन्तामणि सुरतरु थकी रे ॥ म० ॥ अधिकी अरिहंत सेवरे ॥ भ० ॥७॥ गुण स्तुति थकी रे ॥ म० ॥ फरस्यो आतमराम रे। भ० ॥ नियम कंचनता लहे रे ॥ म० ॥ लोह ज्युं पारस पाम रे ॥ भ० ॥ ८ ॥ निर्मल तत्त्वरुचि थई रे ॥ म० ॥ करजो जिनपति भक्ति रे ॥ म० ॥ देवचन्द्र पद पामशो रे ॥ म० ॥ परम महोदय युक्ति रे ॥ म० ॥९॥

अध्यात्मिक पदावली

श्री आनन्दघन कृत पद (१) राग कल्याण

या पुद्गल का क्या विश्वासा, है सुपने का वासा ॥या०॥
चमतकार बीजली दे जैसा, पानी बीच पतासा।
या देही का गर्व न करना, शमशान होगा वासा ॥ या० ॥ १ ॥
झूठे तन धन झूठे योवन, झूठे हैं घर वासा।
आनन्दघन कहे सब ही झूठे, साँचा शिवपुर वासा । या० २ ॥

श्री आनन्दघन कृत पद (२) राग आशावरी

अवधू क्या सोवे तन मठ में, जाग विलोकन घट में ॥अवधू॥
तन मठ की परतीत न कीजे, ढही पड़े एक पल में।
हलचल मेटि खबर ले घट की, चिह्ने रमता जलमें ॥अवधु। १ ॥
मठ में पंच भूत का वासा सासा धूत खवीसा।
छिन-छिन तोही छलनकुं चाहे, समझे न बौरा सीसा ॥ अ० २॥
शिर पर पंच बसे परमेश्वर, घट में सूक्ष्म बारी।
आप अभ्यास लखे कोइ विरला, निरखे ध्रू की तारी ॥अ० ३॥
आशा मारी आसन घर-घट में, अजपा जाप जपावे।
आनन्दघन चेतनमय मूरति, नाथ निरंजन पावे ॥ अ० ॥ ४ ॥

श्री आनन्दघन कृत पद (३) राग गोड़ी

निशानी कहा बताऊँरे, तेरो अगम अगोचर रूप ॥ निशानी॥
कहुं तो कछु नहीं रे, बंध कैसे अरूप।
...पी जो कहुं प्यारे, ऐसे न सिद्ध अनूप॥ निशानी ॥१॥

शुद्ध सनातन जो कहुं रे, बंध न मोक्ष विचार।
न घटे संसारी दशा प्यारे, पुण्य पाप अवतार ॥ निशानी ॥२॥
सिद्ध सनातन जो कहुं रे, उपजे विनसे कौन।
उपजे विनसे जो कहुं प्यारे, नित्य अबाधित गौन ॥निशानी ॥३॥
सर्वांगी सब नयधनी रे, माने सब प्रमाण।
नयवादी पल्लो ग्रही प्यारे, करे लड़ाई ठाण ॥ निशानी ॥ ४ ॥
अनुभव गोचर वस्तु है रे, जाणवो यह इलाज।
कहन सुनन को कछु नहीं प्यारे, आनन्दघन महाराज ॥नि०॥५

श्री आनन्दघन कृत पद (४) राग आशावरी

आशा औरन की क्या कीजे, ज्ञान सुधारस पीजे ॥ आशा० ॥
भटके द्वार-द्वार लोकन के कूकुर आशा धारी,
आतम अनुभव रस के रसीया, उतरे न कबहु खुमारी ॥आशा०॥
आशा दासी के जे जाये, ते जन जग के दासा,
आशा दासी करे जे नायक, लायक अनुभव प्यासा ॥आशा०॥
मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्म अग्नि परजाली,
तन भाठी अवटाइ पीये कस जागे अनुभव लाली ॥ आशा० ॥
अगम प्याला पीयो मतवाला, चिह्नी अध्यातम वासा।
आनन्दघन चेतन व्है खेले, देखे लोक तमाशा ॥ आशा० ॥

श्री चिदानन्द कृत पद (१) राग भैरवी

विरथा जनम गमायो। मूरख विरथा० ॥
रंचक सुख रस वश होय चेतन, अपनो मूल नसायो।
पांच मिथ्यात धार तुं अजहुं, सांच भेद नवि पायो। —

कनक कामिनी अरु एहथी, नेह निरंतर लायो।
ताहु थी तुं फिरत सोरानो, कनक बीज मानो खायो ॥ मूरख ॥ २
जनम जरा मरणादिक दुःखमें, काल अनंत गमायो।
अरहट घटिका जिम कहो याको, अन्त अजहुं नवि आयो ।मू०।३।
लख चौरासी पहेर्या चोला, नव-नव रूप बनायो।
बिन समकित सुधारस चाख्यां, गिनती कोउ न गिनायो ।मू०।४।
एते पर नवि मानत मूरख, ए अचरज चित्त आयो।
चिदानन्द ते धन्य जगत् में, जिणे प्रभुसुँ मन लायो ॥ मूरख ॥

श्री चिदानन्द कृत पद (२) राग आशावरी

ज्ञान कला घट भासी ।जाकूं ज्ञान०।
तन धन नेह नहीं रह्यो ताकूं, छिनमें भयो उदासी ॥जाकूं १॥
हुं अविनाशी, भाव जगत् के, निश्चे सकल विनाशी।
एहवी धार धारणा गुरुगम, अनुभव मारग पासी ॥जाकूं ॥ २ ॥
मैं मेरा, ये मोह जनित जस, ऐसी बुद्धि प्रकाशी।
ते निःसंग पग मोह शीस दे, निश्चे शिवपुर जासी ॥जाकूं॥३॥
सुमता भई सुखी इम सुनके, कुमता भई उदासी।
चिदानन्द आनन्द लह्यो इम, तोड़ करम की पासी ॥जाकू॥ ४॥

श्री चिदानन्द कृत पद (३) राग जंगलो काफी

जग में नहीं तेरा कोई, नर देखहु निहचे जोई। जग०।
सुत मात तात अरु नारी, सहु स्वारथ के हितकारी। बिन स्वारथ शत्रु सोई। जग० ॥ १॥ फिरत महा मदमाता,

विषयन संग मूरख राता। निज संगकी सुध बुध खोई। जग० ॥ २॥ घट ज्ञान कला नव जाकूं, पर निज मानत सुन ताकूं। आखर पछतावा होई। ॥ जग० ॥ ३ ॥ नवि अनुपम नरभव हारो, निज शुद्ध स्वरूप निहारो। अन्तर ममता मल धोई। जग० ॥ ४ ॥ प्रभु चिदानन्द की वाणी, धार लुं निश्चें जग प्राणी। जिम सफल होत भव दोई। जग० ॥ ५ ॥

श्री चिदानन्द कृत पद (४) राग जंगलो काफी

झूठी झूठी जगत की माया, जिन जाणी भेद तिन पाया। झूठी०। तन धन जोवन सुख जेता, सहु जाणहु अथिर सुख तेता। नर जिम बादल की छाया। झूठी० ॥१॥ जिम अनित्य भाव चित्त आया, लख गलित धूप की काया। धूमें करकंडु राया। झूठी० ॥ २ ॥ इम चिदानन्द मन मांही, कछु करीये ममता नांही, सद्गुरु ए भेद लखाया। झूठी० ॥ ३ ॥

श्री चिदानन्द कृत पद (५) राग सोरठ

क्या तेरा क्या मेरा,प्यारे सहु पड़ाइ रहेगा। पंच्छी आय फिरत दहु दिशाथी, तरुवर रैन बसेरा। सहु आपने आपने मारगतें, होत भोरकी बेरा। प्यारे० ॥ १ ॥ इन्द्रजाल गंधर्व नगर सम डेढ़ दिनाका घेरा। सुपन पदारथ नयन खुल्या जिम, जरत न वहु चिय हेरया। प्यारे० ॥ २ ॥ रविसुत करत शीश पर तेरे, निशि दिन छाना फेरा। चेत सके तो चेत चिदानन्द, समझ शब्द ए मेरा। प्यारे ॥ ३ ॥

श्री चिदानन्द पद (६) राग टोडी

कथनी कथे सहु कोई, रहनी अति दुर्लभ होई। कथनी०।
शुक राम को नाम वखाने, नवि परमारथ तस जाने।
या विध वेद भणी सुणावे, पण अकल कला नवि पावे।कथ०॥१॥
षट्त्रीश प्रकारे रसोई, मुख गणतां तृप्ति न होई।
शिशु नाम नहि तस लेवे, रस स्वादत सुख अति लेवे। कथ०॥२॥
बंदीजन कड़खा गावे, सुनी शूरा शीश कटावे।
जब रुंडमुंड ता भासे, सहु आगल चारण नासे। कथनी० ॥ ३॥
कहथी तो जगत मजूरी, रहनी है बन्दी हजुरी।
कहनी साकर सम मीठी, रहनी अति लागे अनीठी।कथनी०।४॥
जब रहनी का घर पावे, कथनी तब गिनती आवे,
अब चिदानन्द इम जोई, रहणी की सेज रहे सोई। कथ० ॥५॥

श्री चिदानन्दकृत पद (७) राग विहाग या टोडी

लघुता मेरे मन मानी, लहि गुरुगम ज्ञान निशानी॥ लघुता ॥
मद अष्ट जिनोने धारे, ते दुर्गति गये विचारे।
देखो जगत में प्राणी, दुःख लहत अधिक अभिमानी। ल० ॥१॥
गुरुवाई मनमें वेदे, नृप श्रवण नासिका छेदे।
अंग माहे लघु कहावे, ते कारण चरण पूजावे। लघुता ॥ २॥
शिशु राज धाम में जावे, सखी हिलमिल गोद खिलावे।
होय बड़ा जाने नवि पावे, जावे तो शीश कटावे। लघुता

अन्तर- मद्-भाव बहावे, तब त्रिभुवन नाथ कहावे।
इम चिदानन्द ए गावे, रहनी विरला कोउ पावे। लघुता ॥ ४।

वैराग्य पद

आप स्वभाव मोरे अवधू, सदा मगन में रहना,
जगत् जीव है कर्माधीना, अचरज कछु अन लीना ॥ अवधू० ॥
तुं नहीं केरा कोई नहीं तेरा, क्या करे मेरा मेरा।
तेरा है सो तेरी पासे, अवर सभी अनेरा। अवधू० ॥ १ ॥
वपु विनाशी तुं अविनाशी, अब है इनका विलासी,
वपु संग जब दूर निकाशी, तब तुम शिव का वासी॥ अवधू० २॥
रागने रीशा दोय खवीशा, ये तुमको दुख दीशा,
जब तुम इनको नाश करीशा, तब तुम जग का ईशा। अव० ॥३॥
पर की आशा सदा निराशा, ये है जग जन पासा,
ते काटन कुं करो अभ्यासा, लहो सदा सुख वासा। अवधू० ॥४॥
कबही काजी कबही पाजी, कबहीक हुआ अपभ्राजी।
कबही जग में कीरति गाजी, सब पुद्गल की बाजी। अवधू॥ ५॥
शुद्ध उपयोग ने समता धारी, ज्ञान ध्यान मनोहारी।
कर्म कलंक कुं दूर निवारी, जीव वरे शिव नारी। अवधू० ॥ ६॥

श्री सहजानन्द कृत पदावली, पद दूसरा (नाराच छंद)

नाम सहजानन्द, मेरा नाम सहजानन्द। अगम देश, अलख नगर, वासी मैं निर्द्वन्द। मे० १। सद्गुरुगम तात मेरे, स्वानुभूति मात। स्याद्वाद कुल है मेरा, सद् विवेक भ्रात ॥ मे० ॥२॥
सम्यग् दर्शन देव मेरे, गुरु है सम्यग् ज्ञान।

धर्म मेरा, साधन स्वरूप ध्यान ॥ मे० ॥३॥ समिति ही है प्रवृत्ति मेरी, गुप्ति ही आराम। शुद्ध चेतना प्रिया सह, रमत हूँ निष्काम ॥ मे० ॥ ४ ॥ परिचय यही अल्प मेरा, तन का तन से पूछ, तन परिचय जड़ ही है सब, तब क्यों मरोड़े मूछ ॥मे० ।५।

विचार नुं विचार पद चौथा (नाराच छंद)

विचार रे ! विचार तुं वि—चारनो विचार आ। विचारिये वि—चार नित्य, सार तत्व पामवा ॥ लखो जुदा विचार चार, शब्द पूर्ति सुख प्रदा। अहं तजी विनय सजी सुसंत शरण ले सदा ॥१॥ विशुद्ध संत चरण शरण, हृदय नयन दे मुदा। विवेक थी स्वआत्म देह, अनुभवो जुदा जुदा ॥ टले अज्ञान-भ्रान्ति ज्ञेय, निष्ठता स्व अनुभवे। असार क्षणिक पंच विषय थी, विरक्ति उद्भवे ॥२॥ स्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव, निज योग क्षेमता। असंग-मौन-स्वरूप, शुभ-विचर छेद भयलता ॥ सुदृष्टि ज्ञान थी, स्वरूप-निष्ट था महारथी। विज्ञानघन विमुक्तानन्द, सहज ले विचार थी ॥ ३ ॥

पांच इन्द्रियोंके विषय, पद पाँचवां (भैरवी)

मारग मां लूंटे पांच जणी। मारग०। देखाडी त्रण लोक सिनेमा, पहली लुंटे बनी ठणी। आत्म भूलवे दृष्टि फसावे, दृश्ये सुख नहीं एक कणी। मारग० ॥ १ ॥ ग्राम-मुर्च्छना-ताल-...सप्त स्वरे अंबर-गुँजणी। अगम रेडियो गान अलापी, ...ी गायकनी। मारग० ॥२॥ दिव्य-पुष्प-रज दिव्य सुगंधी,

अन्तर- सद्-भाव बहावे, तब त्रिभुवन नाथ कहावे
इम चिदानन्द ए गावे, रहनी विरला कोउ पावे।

वैराग्य पद

आप स्वभाव मोरे अवधू, सदा मगन में रहना,
जगत् जीव है कर्माधीना, अचरज कछु अन लीना
तुं नहीं केरा कोई नहीं तेरा, क्या करें मेरा मेरा।
तेरा है सो तेरी पासे, अवर सभी अनेरा। अवधू०।।
वपु विनाशी तुं अविनाशी, अब है इनका विलासी,
वपु संग जब दूर निकाशी, तब तुम शिव का वासी॥ अवधू
रागने रीशा दोय खवीशा, ये तुमको दुख दीशा,
जब तुम इनको नाश करीशा, तब तुम जग का ईशा। अव०
पर की आशा सदा निराशा, ये है जग जन पासा,
ते काटन कुं करो अभ्यासा, लहो सदा सुख वासा। अवधू०
कबही काजी कबही पाजी, कबहीक हुआ अपभ्राजी।
कबही जग में कीरति गाजी, सब पुद्गल की बाजी। अवधू
शुद्ध उपयोग ने समता धारी, ज्ञान ध्यान मनोहारी।
कर्म कलंक कुं दूर निवारी, जीव वरे शिव नारी। अवधू०

श्री सहजानन्द कृत पदावली, पद दूसरा (नाराच छं

नाम सहजानन्द, मेरा नाम सहजानन्द। अगम देश,
नगर वासी मैं निर्द्वन्द।मे० १। सद्गुरुगम तात मेरे,
मात। स्याद्वाद कुल है मेरा, सद् विवेक भ्रात॥ मे०
सम्यग् दर्शन देव मेरे, गुरु है सम्यग् ज्ञान। आतम

निरेच्छा छे टीफट पारगति, निवृत्ति आपे स्व स्वरूप स्थिति। यो विषयातीत थई प्रतिक्षण सत्संगा। उल्लसे० ॥ ५ ॥ आराधीने खोयो आत्म प्रभु, निवृत्तिये प्रगटे ज्ञान शिशु। तजो मां चिन्तन वकवाद, आचरण ढंगा। उल्लसे०। ६ ॥

आत्म स्वरूप पद दसवाँ (चाल-दिलमा दिवड़ो थाय)

एयाय न कदी वीसार त्रिलोकीसार, अड़ एन न्यारो प्रियतम आनन्दघन म्हारो ॥ चिद् धातुमय परम शान्त, छे स्वभावि न आदि अन्त, अटल एकाग्र असंख्य प्रदेशाधारो। प्रियतम० ॥ १॥ पुरुषाकारो चिन्मय देही, कफ वात पित्त वर्जित देही। रस स्पर्श गंध रूपनो ले न सहारो। प्रियतम० ॥ २ ॥ ए अजरामर असंयोगी, अडनो नहीं करता नहीं भोगी। नहीं योगी अयोगी शुद्ध उपयोग सितारो। प्रियतम० ॥ ३॥ एने बन्ध गया दूरे नासी, थयो कर्म कर्म-फलनो नाशी। चैतन्य-लक्ष्मी हे भव्य ! भजो शुभ प्यारो। प्रियतम० ॥ ४॥

दिव्य संदेश पद चाइसवाँ-श्री सहजानन्द कृत

उपयोग लक्षणे ... एवो आत्म स्वरूप
यान मां प्रमाओरे ॥ १ ... वैक्रिय, आहारक
अने कार्मण काया ... व्यापोरे ॥ २ ॥
। अमानानु वेदन ... शुभाशुभ
[illegible]ओरे ॥ ३ ॥ ... मां भे पल
[illegible]ला नारा ... ॥

हीना अन्तर फूटेल मणी। महक फेलावी लूंट चलावे, लुंटारी
त्रीजी सुंघणी। मारग० ॥३॥ सहस्र दले कर्णिका थी रस, वर-
सावे एक धार हनी। अमृत धारा कही छलचावे, लुंटारी चौथी
भूतनी। मारग० ॥४॥ दिव्य स्पर्श थी फसवे पांचमी, दिव्य
विषय जड़ नाग फणी। सहजानन्द घन उपशम श्रेणि, पटकावे
वृतियो ठगणी॥ मारग० ॥५॥

सद्गुरु संग-पद सातवां

साधक! कर सद्गुरु मन संग। द्रव्य, क्षेत्र ने काल, भाव
थी जेओं अमल असंग। साधक० ॥१॥ ज्ञायक आत्म स्वभाव
जेनी स्थिरता चित्त तरंग॥सा० २॥ द्रव्य भाव नो कर्म उदय
मां, केवल साक्षी प्रसंग। साधक० ॥ ३ ॥ कर्म, कर्म-फल त्यागी
धरे एक ज्ञान चेतना रंग। साधक० ॥ ४ ॥ आप आपमां आप
थी विलसे सहजानन्द अभंग। साधक० ॥ ५ ॥

उपदेश पद नवमों (चाल-दिलमांदिवड़ोथाय)

१ आ पंच विषय विक्षेप, मेरी चेप धमी थाओ चंगा, उल्लसे
सहजानन्द गंगा॥ १ ॥ जो विषय पूर्ति आनन्द दाता, तो केम
थाको ते भोगवता? ज्यारे थावो शरणे विषय निवृत्ति प्रसंगा।
उल्लसे० ॥ २ ॥ विषयेच्छा पूर्ति छे पराधीन, पण तास निवृत्तिछे
स्वाधीन। रहो स्पर्श-रस-गंध-रूप स्वेज असंगा॥ उल्लसे०। ३॥
विषयेच्छा-पूर्ति प्रमाद वहा, आरम्भ परिग्रह पाप महा।
लहो निवृत्तिए निज आत्म प्रतीति अभंगा। उल्लसे० ॥ ४॥

हीना अन्तर फूलेल तणी। महक फैलावी लूंट चलावे, लुंटारी तीजी सुंघणी। मारग० ॥३॥ सहस्र दले कर्णिका थी रस, बरसावे एक धार घनी। अमृत धारा कही ललचावे, लुंटारी चौथी भूतनी। मारग० ॥४॥ दिव्य स्पर्श थी फसवे पांचमी, दिव्य विषय जड़ नाग फणी। सहजानन्द घन उपशम श्रेणि, पटकावे वृत्तियो ठगणी ॥ मारग० ॥५॥

सद्गुरु संग-पद सातवां

साधक ! कर सद्गुरु सत् संग। द्रव्य, क्षेत्र ने काल, भाव थी जेथी अमल असंग। साधक० ॥१॥ ज्ञायक आत्म स्वभाव जेनी, स्थिरता चित्त तरंग ॥सा० २॥ द्रव्य भाव नो कर्म उदय मां, केवल साक्षी प्रसंग। साधक० ॥ ३ ॥ कर्म, कर्म-फल त्यागी धरे एक ज्ञान चेतना रंग। साधक० ॥ ४ ॥ आप आपमां आप थी विलसे, सहजानन्द अभंग। साधक० ॥ ५ ॥

उपदेश पद नवमां, (चाल-दिलमांदिवड़ोथाय)

१ आ पंच विषय विक्षेप, फेरी चेप वमी थाओ चंगा, उल्लसे सहजानन्द गंगा ॥ १ ॥ जो विषय पूर्ति आनन्द दाता, वो केम थाको ते भोगवता ? ज्यारे थावो शरणे विषय निवृत्ति प्रसंगा। उल्लसे० ॥ २ ॥ विषयेच्छा पूर्ति छे पराधीन, पण तास निवृत्तिछे स्वाधीन। रहो स्पर्श-रस-गंध-रूप स्वेज असंगा ॥ उल्लसे० ॥ ३॥ विषयेच्छा-पूर्ति प्रमाद बहा, आरम्भ परिग्रह पाप महा। लहो निवृत्तिए निज आत्म प्रतीति अभंगा। उल्लसे० ॥ ४॥

विषयेच्छा छे टीकट चारगति, निवृति आपे स्व स्वरूप स्थिति। करो विषयातीत थई प्रतिक्षण सत्संगा। उल्लसे० ॥ ५ ॥ विषयाधीने खोयो आत्म प्रभु, निवृत्तिये प्रगटे ज्ञान विभु। तजो व्यर्थ चिन्तन बकवाद, आचरण ढंगा। उल्लसे० ॥ ६ ॥

आत्म स्वरूप पद दसवाँ (चाल-दिलमा दिवड़ोथाय)

एथाय न कदी बीमार त्रिलोकीसार, जड़ तन न्यारो प्रियतम आनन्दघन म्हारो ॥ एचिद् धातुमय परम शान्त, छे एक स्वभावि न आदि अन्त, अडग एकाग्र असंख्य प्रदेशाधारो। प्रियतम० ॥ १॥ पुरुषाकारो चिन्मय देही, कफ वात पित्त वर्जित गेही। रस स्पर्श गंध रूपनो ले न सहारो। प्रियतम० ॥ २ ॥ ए अजरामर असंयोगी, जड़नो नहीं करता नहीं भोगी। नहीं योगी अयोगी शुद्ध उपयोग सितारो। प्रियतम० ॥ ३ ॥ एणे बन्ध प्रथा दूरे नांखी, थयो कर्म कर्म-फलनो साखी। चैतन्य-लक्ष्मी कहे भव्य! भजो मुझ प्यारो। प्रियतम० ॥ ४ ॥

दिव्य संदेश पद बाइसवां-श्री सहजानन्द कृत

उपयोग लक्षणे सनातन स्फुरित एवो आत्म स्वरूप निज ध्यान मां जमाओरे ॥ १ ॥ औदारिक, वैक्रिय, आहारक तेजस अने कार्मण काया पंच थी भिन्न सदा ध्यावोरे ॥ २ ॥ साता ने असातानु वेदन छे अबंध लगी, तेना कर्ता शुभाशुभ ध्यान ने भगावोरे ॥ ३ ॥ स्वरूप मर्यादा स्थित आत्मा मां जे चल भाव, तेना नाश माटे ज्ञान निष्ठाने जगावोरे ॥ ४ ॥